जागोरी की द्विमासिक पत्रिका
मई-जून 2009

हम सबला

इस अंक में

मुस्लिम महिलाओं के अधिकार

हम सबला

मई-जून 2009

संपादन एवं अनुवाद
जुही जैन

संपादन सहयोग
जया श्रीवास्तव
कल्याणी
खुर्शीद अनवर
सीमा श्रीवास्तव
रत्नमंजरी

मुख पृष्ठ
'ऑवर मुस्लिम ऐन सैस्टर्स'
पोस्टर-कृति शिरकत गाह,
पाकिस्तान

रेखाचित्र
प्रशांत ए.वी.

पेज सज्जा व मुद्रण
सिस्टम्स विज़न
दूरभाष 26811195
systemsvision@gmail.com

बी 114 शिवालिक, मालवीय नगर
नई दिल्ली 110017
ई-मेल jagori@jagori.org
वेबसाइट www.jagori.org
दूरभाष 26691219, 26691220
हेल्पलाइन 26692700

इस अंक में

हमारी बात — सईदा सैयदीन हमीद — 1

लेख
- मुस्लिम महिलाओं की पहचान — ज़ोया हसन व ऋतु मेनन — 4
- इस्लाम में महिला अधिकार — प्रो. अख़्तरुल वासे — 7
- भारतीय मुस्लिम महिलाएं — सीमा काज़ी — 10
- मीडिया की नज़र में मुस्लिम महिलाएं — सबीना किदवई — 16
- मुस्लिम महिलाएं व यौनिकता का सवाल — आवाज़-ए-निस्वां — 26

आमने-सामने
- 'हिजाब' के पीछे का सच — सादिया देहलवी — 12
- बदलाव की लहर — पामेला फ़िलीपोज़ — 32

कहानी
- लिहाफ़ — इस्मत चुगताई — 20

कविता
- लड़कियों का गोल्लाछूट — तसलीमा नसरीन — 6
- लावा — जमीला निशात — 9
- तूफ़ा — जमीला निशात — 29
- समझौते की चादर — ज़ेहरा निगाह — 35

संवाद
- 'तेहरा-तलाक' क्या इस्लाम में इसकी इजाज़त है? — सईदा सैयदीन हमीद — 14
- सींखचों में कैद लेखनी — अमीना हुसैन — 30
- इस्लामी करुण गीत 'जाड़ी गान' — अजीता मेनन — 34

पाठकों के विचार
- स्त्री की जगह — अलका आर्य — 28

फ़िल्म समीक्षा
- जुबैदा — जुही जैन — 36

पुस्तक समीक्षा
- 'इन अम्माज़ हीलिंग रूम: जेंडर एण्ड वरनेक्यूलर इस्लाम इन साउथ इण्डिया' — जुही जैन — 38

नया प्रकाशन
- पारो 'मेवात' में खरीदी हुई एक औरत — 40

हमारी बात

मुस्लिम महिलाओं के लिए लैंगिक इंसाफ़

मेरे दोस्तों को हैरत होती है कि मैं न सिर्फ़ इस्लाम में विश्वास करती हूं बल्कि सभी मज़हबी रवायतों का पालन करने वाली महिला हूं। मुझे 'वहदानियत' यानी एक अल्लाह की मौजूदगी में यकीन है। सवेरे उठकर सबसे पहले नमाज़ पढ़ती हूं और रात को सोने से पहले भी। रमजान में रोज़े रखती हूं। पर यह सब इसलिए नहीं करती कि मेरी पैदाइश एक मुसलमान परिवार में हुई बल्कि इसलिए क्योंकि पिछले चालीस सालों में मुझे इसकी अहमियत और अधिक महसूस हुई है। हालांकि नमाज़ अदा करना मेरी परवरिश में शामिल था पर इस्लाम के अंतर्गत औरतों के लिए हकूक व न्याय की तलाश मैंने बाईस साल पहले ही शुरू की, जब सड़सठ वर्षीय शाहबानो ने पहली दफा यह सवाल उठाया। पर आईये आज बात शुरूआत से करते हैं।

मेरा जन्म एक मध्यमवर्गीय मुसलमान परिवार में हुआ, अपने माता-पिता की मैं चौथी संतान थी। मेरी पैदाइश पर मेरे वालिद बहुत खुश थे परन्तु पड़ोसी अफसोस ज़ाहिर करने चले आए थे। यह किस्सा मेरे जन्म के समय मौजूद रिश्तेदार बार-बार दोहराते थे। मेरे वालिद के पूर्वज नामी समाज सुधारकों में से थे जो औरतों की तालीम, सम्पत्ति अधिकार और आज़ाद-ख्याली के कायल थे। करीबन एक सदी पहले मेरे दादाजान ने औरतों के दर्जे पर कविताएं व नज़्में लिखी थीं जिनमें उन्होंने कहा था कि "दुनिया की ज़ीनत तुमसे है"। दादाजान ने अपनी पांच साल की पोती, मेरे पिता की सबसे छोटी बहन के लिए भी एक खास कविता लिखी थी जिसमें उन्हें "सबकी आंखों का तारा" बताया गया था। चूंकि मेरा नाम मेरी फूफीजान के नाम पर रखा गया था मैं कई सालों तक यही सोचती रही कि वह नज़्म मेरी शान में अर्ज़ गई थी।

इस रवायत में पलती-बढ़ती मैं लैंगिक न्याय और मुस्लिम पर्सनल लॉ को समझने की कोशिश करने लगी। मैंने अनेक निकाहनामे पढ़े और उन्हें कुरान में दर्ज निकाह की आयतों के साथ मिलाया। देश की मुसलमान बस्तियों और इलाकों में जाकर औरतों की व्यक्तिगत त्रासदियों और ज़िंदगीनामों की समझ बनाई। ज़्यादातर औरतों ने 'तेहरा' तलाक, बहुविवाह, मेहर व गुज़ारा भत्ता जैसी सुविधाओं की कमी की बातें मुझसे बांटी। मैंने खुद भी अनेकों दफा सूरा अल-निसा व सूरा अल-बकारा को पढ़ा जिससे कुरान की पुख्ता समझ बन सके। मुझे तकलीफ हुई कि पंद्रह सौ वर्ष पहले प्रकट हुई सच्चाई क्या थी और हम मुसलमानों ने उस पाक प्रकटन का क्या हश्र कर दिया है।

सबसे पहले मैंने निकाहनामों पर गौर किया। यह शब्द अपने आप में बरगलाने करने वाला है। 'नामा' के मायने हैं— संदेश। पर शीर्षक से यह कहीं साफ नहीं होता कि निकाह दो व्यक्तियों के बीच कानूनी अनुबंध होता है। इस अनुबंध में कोई मज़हबी रिवाज जुड़ा नहीं होता जैसा हिन्दू, सिख या ईसाई विवाह में होता है। इस अनुबंध का सही शीर्षक है- मुहाईदा-ए-निकाह जिसमें मुहाईदा का अर्थ है अनुबंध। अनुबंध में दोनों पक्षों को कुछ-कुछ शर्तें लगाने का अधिकार होता है। उदाहरण के लिए एक औरत अपने अनुबंध में घर की साझी ज़िम्मेदारी उठाने या एक ही विवाह करने की शर्त रखवा सकती है। कुरान के अनुसार अनुबंध में दर्ज शर्तें वाजिब होनी चाहिए। एक अन्य बात जो अनुबंध में अहम है वह है मेहर की रकम का दर्ज होना। इसे छोड़ा नहीं जा सकता। खुद पैगम्बर साहब ने भी इस शर्त

का पालन अपने दामाद अली व बेटी फातिमा के निकाह में किया था और अली को अपनी इकलौती मिल्कियत लौह कवच को बेचकर रकमे-मेहर अदा करनी पड़ी थी।

यह हम मुस्लिमों के लिए एक शर्म और अफसोस की बात है कि मेहर की रकम के अलावा हमारे निकाह अनुबंध एकदम कोरे होते हैं। मेरे अपने निकाह अनुबंध में यही लिखा है- पचास हज़ार मेहर की रकम के बदले यह निकाह तय किया जाता है।

मेहर की रकम पेशगी के तौर पर निकाह के वक्त अदा की जानी चाहिए। इसे नान-ओ-नक्फा या गुज़ारे की रकम जो तलाक होने पर अदा की जाती है से अलग रखकर देखा जाना चाहिए। शाहबानो मामले में यही अहम मुद्दा था। पर पितृसत्तात्मक नज़रिये ने इस विरोधाभास को और बढ़ावा दिया है। आम विचार यह है कि मेहर की रकम की अदायगी तलाक होने पर की जानी चाहिए। परन्तु यह सही नहीं है। मेहर की रकम निकाह के वक्त अदा की जानी चाहिए। हां औरत अगर चाहे तो उसकी अदायगी मुल्तवी ज़रूर कर सकती है।

चूंकि इस्लामी विवाह एक अनुबंध है, लिहाज़ा यह लाज़िमी है कि निकाह के समय ही तलाक की बात भी की जाए। मेरे लिए कुरान में लिखा यह सबसे व्यावहारिक पहलू है। किसी शुभ मुहूर्त पर तलाक जैसी अशुभ बात करना समाज की रवायतों के ख़िलाफ़ ज़रूर जाता है पर इस्लाम ने इसे एक बेहद अहम दर्जा प्रदान करके निकाह के समय इसका ज़िक्र वाजिब ठहराया है। एक औरत अपने निकाह अनुबंध में तलाक-ए-तफ़वीज़ की शर्त दर्ज कराने का हक़ रखती है जिसके ज़रिए उसे तलाक का समान अधिकार मिलता है। यह हक़ उसे साफ तौर से कुरान द्वारा दिया गया है। इसके मायने है 'तलाक का अधिकार सौंपना' और जिसमें पुरुष औरत को उसे तलाक देने का हक़ सौंप देता है। अगर औरत एक बोझनुमा शादी से आज़ाद होना चाहती है तो वह तलाक-ए-तफवीज़ के आधार पर इसका आगाज़ कर सकती है। अगर वह मुनासिब समझे तो एवज़ में अपने गुज़ारे की रकम का कुछ हिस्सा माफ कर सकती है। पर ये फैसला पूरी तरह उसकी मर्ज़ी और इख्तियारी पर है। मेरी नज़र में यह प्रथा कुरान द्वारा सुधार की दिशा में बढ़ने का एक तरीका है। लिहाज़ा इस्लामी निकाह व तलाक एक ही अनुबंध का हिस्सा हैं।

मुस्लिम महिलाओं के लिए तलाक एक ऐसा घिनौना मसला है जो उनका दमन करके उन्हें कमज़ोर बनाता है। पर कितनी औरतों को यह अंदाज़ा है कि 'तेहरा' तलाक इस्लाम के तहत हराम व गलत समझा जाता है। 'तेहरा' तलाक चलन की पुरज़ोर मुखालफ़त के बावजूद इसकी रोकथाम नहीं हो पाती है। कुरान में दर्ज इसकी लम्बी प्रक्रिया को तालीमकर्त्ता व मौलानाओं ने पूरी तरह नज़रअंदाज़ कर दिया है। वे एक बार तलाक कहने के बाद दूसरी बार तलाक कहने के बीच एक माह की अवधि तक रुकने व तीसरे तलाक कहने से पहले एक और मासिक चक्र की अवधि तक इंतज़ार नहीं करते। समझौते व निपटारा करने की कोई कोशिश नहीं दिखाते। तलाक, तलाक, तलाक कहकर तीस सेंकड के अंदर एक औरत की तकदीर लिख दी जाती है। कुरान व शरीयत दोनों इस तलाक को जायज़ करार नहीं देते, यह सच दुनिया की आंखों से ओझल रखा जाता है। अनपढ़ और बेगैरत मुल्ला चंद कागज़ के टुकड़ों पर दस्तखत करके छुटकारा पा जाते हैं जबकि इन कागज़ों की कोई कानूनी अहमियत नहीं है। और जब-जब कोई मजलूम औरत इसका शिकार होती है तब-तब इस्लाम की महिला विरोधी छवि गहरी स्याही से लिख दी जाती है।

तलाक की ही तरह ही बहुविवाह का चलन इस्लाम का एक और दुर्भाग्यपूर्ण व विकृत पहलू है। हर मज़हब की पैदाइश एक निश्चित संदर्भ में होती है और इस्लाम के साथ भी यही सच जुड़ा है। इस्लाम-पूर्व अरब में अनेक विवाह प्रथा थी। उस समय पुरुषों को औरतें विरासत में जानवरों व सामान की तरह दी जाती थीं। इस सड़े-गले व्यवहार से निजात पाने के लिए कुरान में पत्नियों की तादाद कम रखने की बात की गई जिससे आगे चलकर बहुविवाह प्रथा को खत्म किया जा सके। इसके अतिरिक्त कुरान में एक से अधिक पत्नी रखने के लिए यह शर्त भी दर्ज की गई कि सभी पत्नियों के साथ जीवन के हर पहलू में समान व्यवहार किया जाएगा। यह भी लिखा गया कि खुदा के

बंदों के लिए इस शर्त को पूरा करना नामुमकिन होगा, लिहाज़ा केवल एक ही पत्नी रखनी चाहिए। कुरान ने इस मुद्दे पर मुस्लिम समाज को साफ रास्ता दिखाया। पुरुषों द्वारा बहुविवाह करने की ख्वाहिश पर अंकुश लगाकर एक पत्नी रखने का सुझाव दिया गया है। परन्तु पंद्रह सदियां गुज़रने के बाद भी कुरान द्वारा बताए रास्ते पर आगे बढ़ने की जगह हम पीछे ही गड्ढे में और अधिक धंसते चले जा रहे हैं।

जहां तक मेहर का सवाल है वहां कुरान में पुरुषों की ज़िम्मेदारी व औरतों के हकूकों को लेकर कोई शुबहा नहीं है। मेरी सबसे पसंदीदा आयत सूरा-ए-बकर से है जिसमें दर्ज है कि अगर खाविंद अपनी पत्नी को छोड़ना चाहता है तो वह उससे कुछ भी वापस नहीं लेगा। फिर चाहे वह 'एक सोने की किंतार' ही क्यों न हो। इस पर उस औरत का हक़ है जो उनके अंतरंग संबंध के एवज़ में है। कुरान ने विस्तार से पुरुष को हिदायत दी है कि वह गुज़ारा भत्ता अदा करे खासकर अगर औरत उनके बच्चे की देखभाल कर रही हो तो उसकी हर ज़रूरत पूरी की जानी चाहिए। पुरुष को यह भी हिदायत दी गई कि वह पत्नी की दूसरी शादी में रुकावट पैदा न करे। इस बात से इस्लाम पूर्व अरब में औरतों के पुनर्विवाह की सच्चाई सामने आती है। उस दौर में तलाकशुदा, विधवा, जवान या बूढ़ी सभी औरतों के साथ पुनर्विवाह किया जाता था। खुद पैगम्बर साहब ने एक विधवा खदीजा, जो उम्र में सत्रह वर्ष बड़ी थी के साथ निकाह किया था और उनकी मौत तक वह उनकी इकलौती बीवी थी। खदीजा के इंतकाल के बाद उन्होंने अनेक बार विवाह किया व इसके लिए उन्होंने उम्रदराज़, गरीब व राजनैतिक सहयोगी औरतों का चुनाव किया। इस्लाम में तलाकशुदा या विधवा औरतों के साथ विवाह करने से इंकार नहीं किया जाता है।

तो अब मेरा सवाल यह है कि मज़हब पर बढ़ते पितृसत्तात्मक शिकंजे की मौजूदगी में मुस्लिम महिलाओं के लिए लैंगिक इंसाफ़ सुनिश्चित करने के लिए क्या किया जा सकता है? क्या निकाह अनुबंध संशोधित किया जाना चाहिए? क्या 'तेहरा' तलाक के चलन पर प्रतिबंध लगाना चाहिए? क्या बहुविवाह को नाजायज़ करार दिया जाना चाहिए? इन सभी विषयों पर अनगिनत बहसें की जा चुकी हैं। मुस्लिम व गैर मुस्लिमों सभी ने इसके लिए अनेक सुझाव भी पेश किए हैं।

मैं मौलाना अबुल कलाम आज़ाद के कुरान के तर्जुमे और व्याख्याओं को पढ़ते-पढ़ते बड़ी हुई हूं। मेरी समझ की रोशनी कुरान की गहरी तालीम की देन है। पाकिस्तान के नामचीन चिंतक, डाक्टर मुबशिर हसन जिन्होंने इस्लाम की उदारवादी तहज़ीब पर बरसों काम किया है, के साथ चर्चाओं ने मेरी समझ को और पुख्ता बनाया है। इस सभी के आधार पर मैं यह मानती हूं कि अगर हम कुरान में दर्ज बातों से नज़दीकी इख्तियार कर लेंगे तो लैंगिक न्याय की राह हमें मज़हब के अंदर ही मिल जायेगी। सब कुछ मज़हब में ही मौजूद है, अल्फाज़, तरीके, रास्ते। सवाल तो यह है कि दुनिया व सरपरस्तों को ये सच कैसे समझाया जाए?

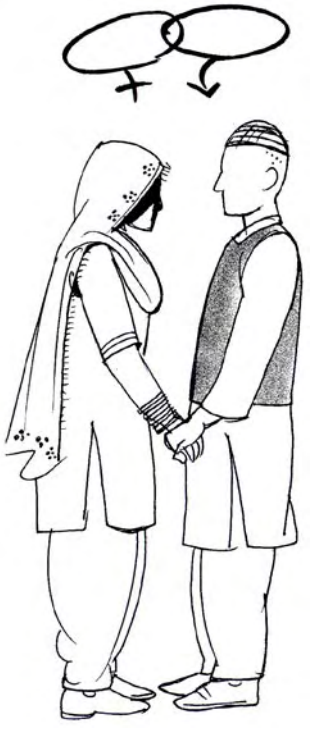

सूरा-ए-निसा खुदा की रहमत के दरवाज़े सभी नेक मर्दों व नेक औरतों के लिए समान तौर पर खोलता है। दोनों को एक ही इम्तिहान से गुज़र कर जाना होगा। दोनों के लिए कोई गुजांइश या अलहदा रास्ते नहीं हैं। कहा गया कि मर्दों में 'मोमिन' (नेक) बंदे होते हैं व औरतों में 'मोमिना'। जिस तरह 'सादिक' (सच्चे) मर्द होते हैं उसी तरह 'सादिका' औरतें भी होती हैं। 'पाकबाज़' मर्द व 'पाकबाज़' औरत दोनों यहीं हैं। मर्द व औरत के बीच फ़र्क़ नहीं होता। हमें मज़हब की इसी रूह को अपनाना और मानना होगा।

मौसम के बदलाव के साथ-साथ अल्फाज़ों और व्यवहार की दूरी बढ़ती जा रही है। आवाज़ें फिर चाहे वो कितनी छोटी या हल्की क्यों न हों बार-बार उठानी होंगी। इंसानी नस्ल को पार लगाने कोई मसीहा नहीं आयेगा।

–सईदा सैयदीन हमीद

मुस्लिम महिलाओं की पहचान

ज़ोया हसन व ऋतु मेनन

पिछले कई दशकों से मुस्लिम महिलाओं पर अध्ययन से जुड़े सभी प्रभावशाली आयाम व उनके हक़ों के लिए चलाए सभी अभियान *मुस्लिम पर्सनल लॉ* के प्रभावों जैसे तलाक, बहुविवाह तथा उनमें सुधार लाने की ज़रूरत पर केंद्रित रहे हैं। इस संदर्भ में मुस्लिम महिलाओं के हक़ बहस का गंभीर विषय रहे हैं विशेषकर जहां इस्लामी कानूनों की व्याख्या का प्रश्न उठता है। इस बहस ने व्यक्तिगत, कानून, पहचान व जेंडर के सवाल के बीच विरोधाभास को विशेष रूप से उजागर कर दिया है। यह विरोधाभास 1986 के मुस्लिम महिला कानून जिसमें तलाकशुदा महिला को गुज़ारा भत्ता पाने के अधिकार से वंचित किया था पर हुए विवाद में भी रेखांकित किया गया था। कुछ मुस्लिम नेताओं ने इस विवाद को मुस्लिम महिलाओं की इस्लामी पहचान से जोड़कर यह दलील पेश की थी कि अदालत का निर्णय *मुस्लिम पर्सनल लॉ* के विरुद्ध जाता है और इसलिए यह मुस्लिम समुदाय की पहचान को भी नज़रअंदाज़ करता है। महिला समूहों ने इस दावे की मुखालफ़त करते हुए महिलाओं की पहचान को संकीर्ण धार्मिक दायरे में परिभाषित करने पर ऐतराज़ उठाया है जो मुस्लिम महिलाओं को अन्य महिलाओं से अलग ईकाई के रूप में रखता है तथा सामुदायिक हितों को अधिक महत्व देता है।

मुस्लिम महिला कानून बने हुए लगभग एक दशक बीत गया है और अब इस मुद्दे पर धर्मनिरपेक्ष सहमति की जगह राष्ट्रीयता के नए धार्मिक व जातीय स्वरूप उभर रहे हैं। इन स्वरूपों में महिलाओं को दकियानूसी और पारम्परिक दायरों में कैद करने के प्रयास हैं। इसी के साथ 1990 से बढ़ती साम्प्रदायिक राजनीति ने हम सबको भारतीय मुसलमानों के अल्पसंख्यक दर्जे पर चिंता करने को बाध्य करने के साथ-साथ साम्प्रदायिक सरहदों को और मज़बूती प्रदान की है। महिलाओं के लिए भी इस साम्प्रदायिक राजनीति की पहुंच *शाहबानो विवाद* में दिखाई दी है और बाबरी मस्जिद के विध्वंस होने के साथ ही हिंदुत्व और भारतीय जनता पार्टी के लिए राजनैतिक सहयोग में भी बेहद तेज़ी देखी गई है। इन दोनों घटनाओं ने धार्मिक आधार पर विभाजन को पुख्ता करके मुस्लिम महिलाओं को उनके समुदाय और *पर्सनल लॉ* की गिरफ्त में कैद कर दिया है।

अब यह स्वीकारा जा रहा है कि किसी भी मुद्दे पर मुस्लिम समुदाय की प्रतिक्रिया होने पर अल्पसंख्यक समाज के मुद्दों को साम्प्रदायिक मुद्दों की नज़र से आंका जाता है जिसके नतीजन व्यक्तिगत कानूनों की सुरक्षा और अल्पसंख्यकों की सुरक्षा एक साथ देखी जाती है। अब 'समुदाय' एक विकट रूप में उभर रहा है जो मुस्लिम महिलाओं के अनुसार उनके अधिकारों को नियंत्रित करने की हर मुमकिन कोशिश में है। महिलाओं के लिए अधिकार व न्याय की मांगों को लेकर अब एक तनाव दिखाई पड़ रहा है। मुस्लिम नेताओं की इच्छा व कोशिश है कि अधिकारों को सामूहिक, साम्प्रदायिक मौजूदगी के दायरे में देखा जाए न कि प्रजातंत्रीय नागरिकता की बुनियादी ज़रूरत के रूप में। मुस्लिम महिलाओं के नज़रिए में, साम्प्रदायिक राजनीति के माहौल में समुदाय की एकजुटता बरकरार रखने की आवश्यकता का अर्थ है जेंडर हितों की नियंत्रित और सामुदायिक पहचान विमर्श के दायरे में अभिव्यक्ति।

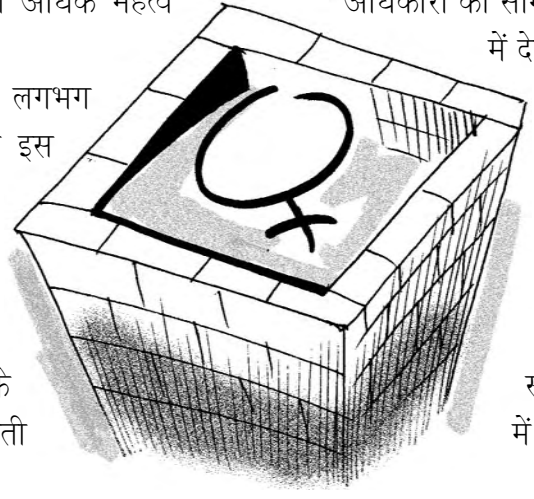

पहचान और मुस्लिम समुदाय पर उसकी पकड़ के मुद्दे को लेकर अनेक नज़रिए सामने उभरकर आये हैं। एक नज़रिया वह है जो विभाजन के बाद घटती धर्मनिरपेक्षता व मुसलमानों की बढ़ती असुरक्षा की भावना की बात करता है और जिसके अनुसार *मुस्लिम पर्सनल लॉ* अल्पसंख्यक पहचान के विशेष प्रतीक के रूप में उभरा है। इस प्रतीक की सुरक्षा ने मुस्लिम महिलाओं के हक़ों का धीरे धीरे हनन करते हुए उन्हें सामुदायिक हितों के नीचे दबा दिया है।

दूसरा नज़रिया मुस्लिम महिलाओं और राज्य के संबंध की बात करता है जिसमें मजबूरी और विरोधाभास निहित हैं। इस हाशियेदार और कमज़ोर समूह के हितों को प्रोत्साहित करने के लिए राज्य का सहयोग व भागीदारी दोनों आवश्यक हैं। पर राज्य ने अपनी ज़िम्मेदारी से मुंह मोड़कर मुस्लिम, धार्मिक, पुरुष नेतृत्व को मुस्लिम महिलाओं पर नियंत्रण रखने और उन्हें एक जेंडर रहित सामुदायिक पहचान के तहत रहने को बाध्य कर दिया है।

इन दोनों व्याख्याओं ने हमें मुस्लिम महिला अधिकार, *शाहबानो केस* के निणर्य के विरोध, *मुस्लिम महिला कानून* जैसे मुद्दों को समझने में मदद की है। अकादमिक शोध तथा *शाहबानो विवाद* के पश्चात *समान नागरिक कानून* की मांग पर कई महिला समूहों के विरोध से स्पष्ट ज़ाहिर है कि ये प्रतिक्रियाएं हिन्दू राष्ट्रवाद के पुनुरूत्थान का नतीजा हैं। अब भी *शाहबानो निर्णय* को वापस लेने के फैसले ने मुस्लिम महिलाओं के अधिकारों पर परोक्ष प्रभाव छोड़े हैं। इस बात को मानकर कि मुस्लिम हितों की सुरक्षा पूर्णतः मुस्लिम नेतृत्व की ज़िम्मेदारी है सरकार ने बहुविध पहचानों की राजनैतिक अभिव्यक्ति को नियंत्रित कर दिया है जिसमें जेंडर अभिव्यक्ति भी शामिल है। इसके अलावा व्यक्तिगत कानून को सामुदायिक पहचान का प्रमाणक मानकर सरकार ने मुस्लिम महिलाओं पर इस पहचान का प्रतीक बने रहने का राजनैतिक दबाव डाला है।

राजनैतिक रूप से मुखर व प्रभावशाली मुस्लिम पुरुषों द्वारा महिला मुद्दों का सहयोजन तथा मुस्लिम महिला सशक्तता का अभाव, दोनों साथ मिलकर महिला संबंधी मुद्दों को दरकिनार कर रहे हैं। इसका सीधा अर्थ यह है कि मुस्लिम महिलाओं के रोज़मर्रा के जीवन को परिभाषित करने वाले आर्थिक, राजनैतिक व सामाजिक सरोकार राज्य की नीतियों से गायब हैं।

भारतीय महिलाओं पर मौजूद साहित्य में तीन विस्तृत धारणाएं देखने को मिलती हैं। पहली, अधिकांश अध्ययनों में मुस्लिम महिलाओं को पूरी तरह नज़रअंदाज़ किया गया है। इनके आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक दर्जे पर कोई पुख्ता जानकारी नहीं मिलती है।

दूसरी धारणा है मुस्लिम महिलाओं के दर्जे को उनके व्यक्तिगत कानून के संकुचित दायरे में रखकर आंकना। यह सोच अपने आप में समस्यापूर्ण है क्योंकि इन अध्ययनों को केंद्र महिलाएं नहीं बल्कि शरीयत, महिलाओं के प्रति पूर्वग्रह लिए कानून व धार्मिक सांस्कृतिक परम्पराएं हैं जो महिलाओं की जगह धर्म-गुरुओं को अधिक महत्व देती हैं। इसके अलावा, हालांकि कानूनी सुधार एक महत्वपूर्ण मुद्दा ज़रूर है परन्तु अगर व्यक्तिगत कानूनों को पूरी तरह संशोधित कर भी दिया जाए तो भी मुस्लिम महिलाओं के दर्जे में कोई अतिवादी परिवर्तन नहीं आएगा। और तो और ये सोच आंतरिक सुधार का पूरा ज़िम्मा, मुस्लिम समुदाय और मुस्लिम महिलाओं की समस्याओं का दारोमदार शरीयत और इस्लाम पर डाल देती है।

तीसरी धारणा यह कि सभी महिलाओं की सभी समस्याएं एक समान होती हैं। यह सोच इस विचार का अनुसरण करती है कि विकास के फायदे सभी को समान रूप से पहुंचाते हैं। इस सोच का एक मानना यह भी है कि हालांकि महिलाओं के बीच पहचान के सवाल को लेकर फ़र्क़ होते हैं फिर भी उनके दर्जे को प्रभावित करने वाले सामाजिक-आर्थिक कारक समान होते हैं और समुदाय का इन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

इस सोच पर सवाल उठाकर न तो हम महिलाओं के साझे उत्पीड़न को दरकिनार कर रहे हैं और न ही मुस्लिम महिलाओं को एक अलग वर्ग की तरह देखने के विचार

को पैरवी कर रहे हैं। पर यह एक गंभीर सच्चाई है कि आर्थिक-सामाजिक विकास प्रतिक्रिया चाहे वह राज्य चलित ही क्यों न हो, का प्रभाव क्षेत्र और समुदाय के अनुसार भिन्न होता है। विमर्श की यह ज़रूरत है कि वह इन फ़र्क़ों को समझे और इन्हें दूर करने के लिए प्रोत्साहन नीतियां बनाई जाएं। इस प्रयास को 'अलगाववादी' या 'दूसरा' करार देने की तरह नहीं देखा जाना चाहिए।

यह कहना गलत नहीं होगा कि मुस्लिम महिलाओं के संदर्भ में व्यक्तिगत कानून व पहचान के मुद्दों पर सारा ध्यान केंद्रित किया गया है तथा सामाजिक-आर्थिक दर्जे और जेंडर के सवाल को हाशिए पर रखा गया है।

नारीवादी विशेषज्ञों व महिला कार्यकर्त्ताओं ने 1980 के दशक से महिलाओं की प्रगति के संदर्भ में नीतियों, राजनैतिक-आर्थिक मुद्दों, कानून, प्रशासन सरकार दायित्व की नियमित समीक्षा की है। मुस्लिम महिलाओं के निम्न आर्थिक दर्जे को अकादमिकों ने स्वीकारा है परन्तु उनके सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक भागीदारी पर काफी कुछ लिखा नहीं गया है। मसलन उनके रोज़गार व श्रम बाज़ार में उनकी कम मौजूदगी पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। हालांकि धर्म को लेकर काफी कुछ शोध किया गया है परन्तु धर्म, श्रम बाज़ार पर अपना क्या प्रभाव डालता है इसके विश्लेषण का अभाव है। श्रम भागीदारी में मुस्लिम महिलाओं की कम मौजूदगी का कारण है हिन्दू महिलाओं की तुलना में उनका निम्न शैक्षिक स्तर पर सार्वजनिक क्षेत्र में उनकी नगण्य भागीदारी के लिए धार्मिक-सांस्कृतिक कारणों का उल्लेख किया जाता रहा है। पर सोचने की बात यह है कि क्या मुस्लिम महिलाओं की कम शिक्षा का कारण सांस्कृतिक मजबूरियां हैं या अवसरों और सुविधाओं की कमी?

हमें आज उस विश्लेषण की ज़रूरत है जो जेंडर व समुदाय, वर्ग और संस्कृति, समुदाय, वर्ग और संस्कृति, समुदाय, वर्ग और क्षेत्र के अंतर्संबन्धों पर गौर करें। हम जानना चाहते हैं कि कैसे और क्यों विकास की मौजूदगी कुछ महिलाओं को पितृसत्तात्मक उत्पीड़न से बाहर निकलने में मदद करती है। आखिर महिलाओं की पहचान व दर्जा उनकी वर्ग, धर्म, क्षेत्र व यौनिक पहचानों का जटिल ताना बाना ही तो होता है।

यह लेख आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस प्रकाशित पुस्तक "इन अ माइनॉरिटी: मुस्लिम विमेन इन इण्डिया" से साभार लिया गया है।

कविता

लड़कियों का गोल्लाछूट*

तसलीमा नसरीन

हम लड़कियां शाम को जो खेल खेलने मैदान में उतरतीं-
उसका नाम था गोल्लाछूट।
सारे मैदान में कितनी चहल-पहल रहती
उस बेफिक्र आनन्द-उल्लास से
धीरे-धीरे कब आ पहुंची मायावी दुखों की छाया में,
याद नहीं, कुछ याद नहीं, हमजोलियों का कौन-सा दल
किधर चला गया
किसे छू लेने से मिलती है मनचाही विजय!
लड़कियां क्या अब भी खेलती हैं
हवा में लहराती हुई अपने बाल
गोल्लाछूट खेल?

मेरी बार-बार इच्छा होती है खेलूं
अब भी रह-रहकर मचलती हैं पांवों की उंगलियां
धूल में डूब जाना चाहते हैं तलवे
मन करता है, जाऊं
दुनिया की सभी जवान लड़कियों को
गोले से हिला दूं छूट
घेरे से कर दूं आज़ाद।

** 'गोल्लाछूट' गोल-गोल घेरे बनाकर एक घेरे से दूसरे में दौड़कर खेला जाने वाला खेल है। एक घेरे से दूसरे में पहुंचने के बीच छू जाने पर 'चोर' बनना पड़ता है।*

इस्लाम में महिला अधिकार

प्रो. अख़्तरुल वासे

मुस्लिम महिलाओं की पारिवारिक और सामाजिक स्थिति के कई पक्षों पर भारतीय मीडिया और प्रेस अपनी संवेदनशीलता प्रदर्शित करते रहे हैं। निश्चित रूप से आधुनिक युग में महिलाओं के पारिवारिक और सामाजिक अधिकारों के बारे में चर्चा करना बहुत आवश्यक है। लेकिन सवाल यह पैदा होता है कि इस चर्चा का उद्देश्य क्या होना चाहिए? यह चर्चा तथ्यों पर आधारित होनी चाहिए या सनसनीख़ेज़ खबरें बना देने की होड़ में इसे केवल एक बिकने वाला समाचार बना देना चाहिए? मुस्लिम महिलाओं से संबंधित विषयों पर लिखने वाले प्रायः उन तथ्यों की ओर ध्यान नहीं देते जिनकी चर्चा किए बिना मुस्लिम महिलाओं की पारिवारिक और सामाजिक स्थिति को नहीं समझा जा सकता।

इस्लाम दुनिया का पहला मज़हब है जिसने स्त्री को सर्वाधिक अधिकार दिए हैं। ये अधिकार व्यापक और विस्तृत हैं। इनके द्वारा स्त्री को प्रगति, खुशहाली, मान, अधिकार और आत्मिक संतोष प्राप्त होता है। कुरान में स्पष्ट है कि मानव अधिकारों के आधार पर स्त्री-पुरुष बराबर हैं। जन्म के आधार पर स्त्री या पुरुष में कोई भेद नहीं है और मानवीय आधार पर भी दोनों के अधिकार में कोई अंतर नहीं है। इस्लाम ने बताया कि स्त्री और पुरुष दोनों ही जीवन की एक सीढ़ी पर खड़े हैं। अपने चरित्र और सद्गुणों के द्वारा दोनों में से जो जितना ऊंचा चाहे, जा सकता है। इसमें लिंग भेद के आधार पर कोई बाधा नहीं है। इस्लामी इतिहास में रबिया बसरी ने श्रेष्ठता और उच्चता का वह स्थान प्राप्त किया जहां तक बड़े-बड़े सूफ़ी-संत नहीं पहुंच सके। अतः स्त्री मानवीय श्रेष्ठता और आत्मिक उन्नति में किसी से पीछे नहीं है।

संसार के अन्य धर्मों की तरह इस्लाम व्यक्ति और समाज की प्रगति के लिए शिक्षा को अनिवार्य स्वीकार करता है। इस्लाम का यह स्पष्ट आदेश है कि स्त्री और पुरुष को ज्ञानार्जन के समान अवसर दिए जाने चाहिए। इसका सीधा अर्थ यह निकलता है कि इस्लाम ज्ञान और जानकारी जैसे सशक्त उपकरण को केवल पुरुषों तक

सीमित नहीं रखना चाहता बल्कि वह चाहता है कि स्त्रियां भी पुरुषों की तरह समक्ष, समर्थ और प्रभावी बनें। इस्लाम ने शिक्षा को ज़िम्मेदारी और कर्तव्य बताया है। हज़रत मुहम्मद स्त्री पुरुष दोनों को घर में, मस्जिद में और सभाओं में अवसर के अनुसार शिक्षा देते रहते थे। इसके अतिरिक्त वे हफ्ते में एक दिन स्त्रियों को विशेष रूप से शिक्षा देते थे। हज़रत मुहम्मद की पत्नी हज़रत आयशा सिद्दीक़ा के बारे में कहा गया है कि उनसे मुसलमानों को इस्लाम का एक तिहाई ज्ञान प्राप्त हुआ है। इतिहास में ऐसी कई नामवर महिलाएं हुई हैं जिनके ज्ञान और अनुभव से दुनिया ने लाभ उठाया है। अतः इस्लाम में लिंग के आधार पर स्त्रियों की शिक्षा पर कोई पाबंदी नहीं है।

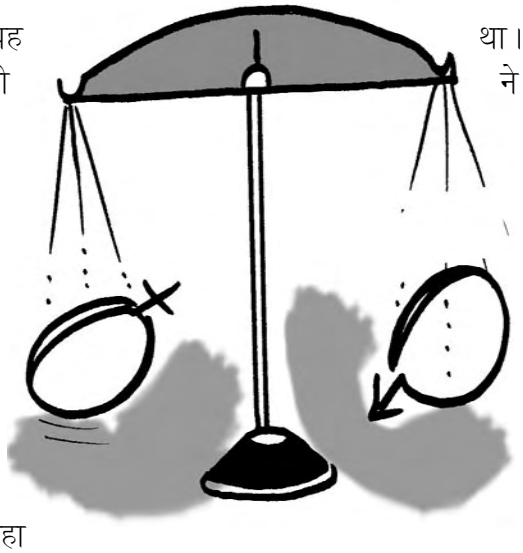

आर्थिक और व्यापार के क्षेत्रों में भी स्त्री की स्थिति और अधिकार पुरुषों के समान ही हैं। इस्लाम ने स्त्री को आजीवन कानूनी तौर पर स्थायी हैसियत प्रदान की हैं। बचपन में, युवावस्था में, विवाह पूर्व, विवाह पश्चात् पति से अलगाव के बाद माता-पिता या भाई-बहन के घर, या जहां कहीं भी हो, स्त्री के अस्तित्व को विशेष मान्यता प्राप्त है। किसी भी अवसर पर स्त्री का अस्तित्व दूसरे में समाहित नहीं हो पाता है। हर प्रकार के आर्थिक अधिकार किसी सामान्य व्यक्ति की भांति स्त्री को भी कानूनी तौर से प्राप्त रहते हैं। वह स्वयं अपनी सम्पत्ति अर्जित कर सकती है और जो कुछ उसके पास है या किसी अवसर पर उसे प्राप्त होता है वह अकेले उसकी स्वामिनी होती है। विवाह के अवसर पर वह जो कुछ साथ लेकर आती है उस पर उसके पति का नहीं बल्कि उसका स्वयं का अधिकार रहता है। विवाह के बाद भी अपने माता-पिता और भाई-बहन की सम्पत्ति में वह अपना पैतृक हिस्सा प्राप्त करती है। इस सम्पत्ति के उपयोग आदि के विषय में उसे पूरी कानूनी स्वतंत्रता और अधिकार रहता है।

हज़रत मुहम्मद के समय स्त्रियां अपना व्यवसाय करती थीं। हज़रत मुहम्मद की पहली पत्नी हज़रत ख़दीजा मक्का शहर की बहुत बड़ी और सफल व्यापारी थीं। उनके आयात और निर्यात का कारोबार दूर-दूर तक फैला हुआ था। विवाह से पूर्व हज़रत मुहम्मद ने उस समय के चलन के अनुसार हज़रत ख़दीजा के व्यावसायिक प्रतिनिधि के रूप में अपनी सेवाएं दी थीं। इतिहास साक्षी है कि अनेक महिलाओं ने व्यापार में नाम और स्थान बनाया। इस्लाम की शिक्षाएं पुरुषों की भांति स्त्रियों को भी रोज़गार हासिल करने के लिए प्रोत्साहित करती हैं ताकि वे इस योग्य बन सकें कि न केवल अपना जीवन सुखमय गुज़ार सकें बल्कि अपने परिवार के लिए भी सहायक बन सकें।

ध्यान देने योग्य बात है कि इस्लाम स्त्रियों को व्यापक रूप से सामाजिक ही नहीं बल्कि राजनैतिक गतिविधियों में भी पुरुषों के समान हिस्सा लेने के पूरे अधिकार देता है। इस्लाम के आरम्भिक दौर में इसके अनेक उदाहरण विद्यमान हैं। हज़रत मुहम्मद ने हज़रत उम्मे-सलमा की राजनैतिक सूझबूझ और विवेक से लाभ उठाया था। हुबैदिया समझौता के समय हज़रत मुहम्मद के साथी भावात्मक रूप से विचलित थे क्योंकि प्रकटतः यह समझौता दबाव में और झुककर किया गया लगता था। इस समय हज़रत मुहम्मद ने अपनी पत्नी हज़रत उम्मे-सलमा की राय पर अमल किया। समस्या का समाधान हो गया। इसी प्रकार हज़रत ज़ैनब की राजनैतिक सूझबूझ और सुदृढ़ चरित्र इतिहास का उज्ज्वल अध्याय है। हमारे देश भारत में बेगमाते भोपाल की राजनैतिक सेवाओं को कौन विस्मृत कर सकता है। उन्होंने हुकूमतों का बेहतरीन नेतृत्व किया और नए कीर्तिमान स्थापित किए हैं।

मुस्लिम महिलाओं में पर्दे की प्रथा भी बहस का मुद्दा बनती रही है। इसके संबंध में प्रायः अतिवादी रवैया अपनाया जाता रहा है। कुछ लोग पर्दे का नितांत विरोध करते दिखाई देते हैं तो कुछ लोग पर्दे के पूरे समर्थन में खड़े दिखाई देते हैं। इस संबंध में इस्लाम का दृष्टिकोण स्पष्ट है। हिजाब या पर्दा इस्लाम में महिलाओं पर बंदिश या पाबंदी के रूप में नहीं रखा गया है। यह इस्लाम के आदेशों पर अमल करने का जज़्बा रखने वाली महिलाओं की पसंद और अधिकार का विषय है। वे पर्दे में अपना मान-सम्मान

और मर्यादा सुरक्षित महसूस करती हैं। पर्दे में वे न केवल मौसम के दुष्प्रभाव और प्रदूषण से स्वयं को बचा पाती है बल्कि यौन हिंसा और छेड़खानी से भी सुरक्षित रहती हैं। इन्हीं उद्देश्यों से इस्लाम ने स्त्री को पर्दे का आदेश दिया है। मुस्लिम महिलाएं पर्दे में रहकर शिक्षा, अध्यापन, नौकरी और व्यापार आदि के अवसरों का पूर्ण लाभ उठाना चाहती हैं। वे अपनी क्षमताओं का भरपूर उपयोग करके परिवार, समाज और देश की उन्नति में अपना हाथ बंटाना चाहती हैं। पर्दा महिलाओं का अपना व्यक्तिगत निर्णय होता है। समाज को उनकी भावनाओं का सम्मान करना चाहिए।

अब प्रश्न यह है कि हिजाब क्या है? कुरान और हदीस के निर्देश हैं कि ऐसा मेल-जोल जो महिलाओं की मान-मर्यादा के लिए ख़तरा बन सकता हो, उनके यौन हिंसा अथवा यौन शोषण का कारण बन सकता हो, महिलाओं की सुरक्षा के मद्देनज़र रोका जाना चाहिए। पुरुषों पर पाबंदी लगाई गई है कि वह पर-स्त्री के एकांत में प्रवेश न करें। वास्तव में यही पर्दे की आत्मा है। काले कपड़े और बुर्के का वर्तमान स्वरूप असल उद्देश्य नहीं है। इसीलिए स्त्री और पुरुष दोनों के लिए आदेश है कि तुम अपनी निगाहें नीची रखो, क्योंकि ये शैतान के बाणों में से एक बाण है।

स्त्री से कहा गया है कि वह अपनी मर्यादा को बनाए रखते हुए अपने निकट संबंधियों के सामने आ सकती है। वे अपने सरों के ऊपर चादर और अपने सीनों पर दुपट्टा डाल लें ताकि गैरों की कुदृष्टि से सुरक्षित रह सकें। कुरान और हदीस के निर्देशों के प्रकाश में फ़िक्ह (इस्लामी न्याय विधि) ने हिजाब (पर्दा) के संबंध में दो मत प्रकट किए हैं। पहला यह कि पर पुरुष के सामने जिस्म का कोई अंग नहीं खुलना चाहिए। दूसरे मत के अनुसार चेहरा और हथेली खुले रह सकते हैं। इसी मत के अनुसार महिलाएं ऐसी वेशभूषा धारण करके (जिसमें शरीर ढका रहे और सर पर स्कार्फ़ हो) अपने मान-सम्मान की रक्षा करते हुए किसी भी सम्मानजनक कार्य या पेशे को अपना सकती है। जीवन और समाज की गाड़ी के लिए स्त्री और पुरुष दो पहिए हैं। एक पहिए की कमी या कमज़ोरी से गाड़ी ठीक प्रकार से नहीं चल सकती है।

कविता

लावा

जमीला निशात

बुर्का पहनकर निकली
डिग्री भी मैंने ले ली
कम्प्यूटर मैंने सीखा
और दूसरों से आगे
मैंने खुद को पाया
अम्मी भी बहुत खुश थीं
अब्बा भी बहुत खुश
हाथों में अपने
मैंने कोहेतूर उठाया
ज़माने को रौंद डालूं
ये दिल में मैंने ठाना
बन जाऊं मैं सिकंदर
काले नकाब के अंदर
हर सांस ने पुकारा
मौज मस्ती में करने निकली
थियेटर में ज्यों ही पहुंची
डंडे ने मुझे रोका –
बुर्का मना है लड़की
काली नकाब से काला
धुआं सा उठा
उस वक्त
वहीं पर
मैंने
बुर्का उतार फेंका।

लेख

भारतीय मुस्लिम महिलाएं
समीक्षा व समाधान

सीमा काज़ी

आज़ादी के छः दशकों के बाद भी भारतीय मुस्लिम महिलाएं समाज की सर्वाधिक अदृश्य, कम शिक्षित, आर्थिक पिछड़ेपन से ग्रस्त व राजनैतिक हाशिए पर खड़ी हैं। मुस्लिम समुदाय की महिलाओं को चुनौती देने वाले मुद्दे तथा भारतीय नागरिक की हैसियत से उनके अधिकारों के हनन दोनों ही पर गौर करना बेहद ज़रूरी हो गया है।

भारत की मुस्लिम महिलाएं एक समरूपी, सजातीय वर्ग नहीं हैं। आम धारणा है कि इन महिलाओं का सामाजिक दर्जा इस्लाम की कुछ निजी व अपरिवर्तनीय विशेषताओं का मोहताज है या उनका कानूनी दर्जा केवल *मुस्लिम कानून* पर आधारित है। इस गलतफहमी के नतीजतन मुस्लिम महिलाओं को भारतीय समाज के एक 'अलग' वर्ग की तरह देखा जाता है जो उनकी सांस्कृतिक रूढ़िबद्धता को पुनर्स्थापित करके समकालीन सच्चाइयों को धुंधला कर देती है।

मुख्यधारा ऐतिहासिक वृत्तान्त, जिसका सरोकार मुगल साम्राज्य के उदय व पतन से है भी मुस्लिम महिलाओं को नज़रअंदाज़ कर देता है। इस दौर में हालांकि मुस्लिम महिलाएं सार्वजनिक जीवन से ज़्यादातर गायब थीं, पर अनके महिलाएं कवियत्री, लेखिका यहां तक कि सुल्तान, रज़िया सुल्तान के रूप में विख्यात थीं। सदी के पलटने के साथ-साथ मुस्लिम समुदाय ने स्त्री शिक्षा की बात उठाई और अनेक महिलाओं ने स्त्री शिक्षा में अपना योगदान किया। बीसवीं सदी के शुरूआती दशकों में शैक्षिक संस्थानों में मुस्लिम लड़कियों की भागीदारी राष्ट्रीय अनुपात के आंकड़ों से कहीं ज़्यादा थी। मुस्लिम महिलाओं ने कानूनी भेदभाव, औरतों को अलग-थलग रखने पर अभियान चलाए व महिला आंदोलन में सक्रिय भूमिका अदा की। 1947 के विभाजन के दौरान व इसके बाद हुई सामाजिक राजनैतिक व आर्थिक उथल-पुथल ने इस धारा का रूख मोड़ दिया। एक राजनैतिक मौजूदगी के अभाव ने मुस्लिम महिलाओं को समुदाय के अंदर व बतौर भारतीय नागरिक अपने सरोकार बुलंद करने से वंचित कर दिया।

1980-90 के दौर में साम्प्रदायिक राजनीति की उत्पत्ति इसमें धर्म व राजनीति का गहरा संबंध दिखाई पड़ा। इसमें अल्पसंख्यकों के सामुदायिक हितों को लैंगिक हितों से अधिक प्रोत्साहन दिया गया; साथ ही मुस्लिम महिलाओं के अनुभवों व ख्वाहिशों का मुस्लिम पुरुषों द्वारा अपनाव ने महिलाओं से उनके दर्जे के लिए मोल-तोल की संभावना भी छीन ली। हिन्दू कट्टर पूर्वग्रह व मुस्लिम रूढ़िवाद के गठबंधन ने मुस्लिम महिलाओं को उनके सरोकार उठाने की कोशिशों में मुश्किलें पैदा कर दीं जैसा कि *मुस्लिम महिला कानून 1986* के सूत्रबद्ध होने के समय स्पष्ट देखा गया था। इस कानून में महिलाओं के अधिकारों को सामुदायिक मांगों से निचले स्तर ही रखा गया था। हिन्दू कट्टरपंथियों ने इस मुद्दे का इस्तेमाल मुस्लिम विरोधी पूर्वग्रह को भड़काने के लिए किया।

हिन्दू कट्टरवाद की राजनैतिक अग्रता, 1992 में बाबरी मस्जिद विध्वंस व 2002 के गुजरात नरसंहार ने धर्म निरपेक्ष कानून को दुर्बल बनाकर भारतीय राज्य की उसके मुसलमान नागरिकों के मानव अधिकारों की सुरक्षा करने की प्रतिबद्धता पर गंभीर सवाल उठा दिये। अयोध्या कांड

व गुजरात कत्लेआम के बाद साम्प्रदायिक हिंसा ने राज्य व उसके पक्षों की मुस्लिम समुदायों व महिलाओं के प्रति घोर मानव अधिकार उल्लंघन में मिली-भगत को उजागर कर दिया। ये सब काम धार्मिक निष्पक्षता, मानव अधिकार सुरक्षा, सामाजिक न्याय कार्यान्वयन तथा सभी भारतीय नागरिकों की समानता के संवैधानिक आदर्शो तथा अंतर्राष्ट्रीय मानव अधिकार कानून के सिद्धान्तों का भी उल्लंघन था। सैकड़ों रिपोर्टो में इस मानवाधिकार उल्लंघनों का दस्तावेज़ीकरण किया है हालांकि मुकदमों की सुनवाई अभी बाकी है।

आधुनिक भारत में मुस्लिम समुदाय का सामाजिक आर्थिक दर्जा, उनकी राजनैतिक भागीदारी की दर व कानूनी सुधार की आवश्यकता चिन्ता और तवज्जो की मांग करते हैं। इस बिन्दू को और बढ़ा-चढ़ाकर कहने की आवश्यकता नहीं है जबकि 1983 की सरकार द्वारा गठित गोपाल सिंह समिति द्वारा मुसलमानों को भारत का "पिछड़ा समुदाय" घोषित किया गया था। इस "पिछड़ेपन" का केन्द्र बिंदु है मुस्लिम समाज विशेषतः महिलाओं का सामाजिक आर्थिक दर्जा। 1981 में 39 ज़िलों, जहां 20 से 95 प्रतिशत मुसलमान जनसंख्या बसती थी, में किए शोध अध्ययन में मुस्लिम महिलाओं की साक्षरता दर 21.91 प्रतिशत पाई गई थी जो राष्ट्रीय अनुपात से 24.82 प्रतिशत कम थी। अखिल भारतीय व केंद्रीय सेवाओं में मुसलमानों की भागीदारी बहुत निम्न थी।

सचर कमीशन रिपोर्ट 2007 ने इस नियमित और तकलीफदेह चलन को खासतौर पर उजागर किया है। इस खराब सामाजिक-आर्थिक दर्जे की तस्वीर के अंदर मुस्लिम महिलाओं के आंकड़े उन्हें सबसे निचले स्तर पर रखते हैं। मुस्लिम महिलाओं का यह निम्न दर्जा इस क्षेत्र में छानबीन की अत्यंत महत्वपूर्ण ज़रूरत को रेखांकित करके, मुस्लिम महिलाओं की बतौर भारतीय नागरिक की हैसियत, पूर्ण व समान भागीदारी सुनिश्चित करके, इस असमानता के प्रतिकार के लिए नीतियों के कार्यान्वयन के लिए राज्य व उसके पक्षों के सक्रिय हस्तक्षेप की मांग करती है। इसके अलावा यह भी महत्वपूर्ण है कि मुस्लिम पुरुष व स्त्रियां अपनी आर्थिक दुर्बलता व निम्न शैक्षिक व रोज़गार के स्तर के कारणों व समाधान को तलाशने के लिए आपस में विचार-विमर्श व आत्म-निरीक्षण करें। इसके अतिरिक्त मुस्लिम महिलाओं को मुस्लिम समुदाय के पितृसत्तात्मक ढांचों से निजात पाने के लिए बहस की ज़रूरत व एकजुटता हासिल करनी होगी।

कानूनी सुधार पर बहस, महिला व इस्लाम पर विचार-विमर्श के साथ जुड़ी है इसलिए मुस्लिम महिलाओं को महिला अधिकार व इस्लाम से जुड़ी बहसों में भागीदारी करनी होगी। भारतीय मुस्लिम महिलाओं के लिए बहुत महत्वपूर्ण है कि वे धार्मिक ज्ञान पर अपने हक़ पुनर्स्थापित करें, शरीयत पर विमर्श में शिरकत करके अपने ऐतिहासिक दरकिनारी व भेदभाव पूर्ण व्याख्याओं को चुनौती दें। इसी के साथ यह भी ज़रूरी है कि मुस्लिम महिलाएं (व पुरुष) देश के धर्मनिरपेक्ष व प्रगतिशील समूहों के साथ सहयोग संबंध बनाएं जिससे मुस्लिम समुदाय की समानता व भागीदारी-युक्त बेहतरी व महिलाओं के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य व सामाजिक अवसरों को हासिल करने की ज़रूरत पर ज़ोर दिया जा सके।

सन 2009 के चुनावी परिणामों ने धर्म निरपेक्ष राजनीति व भागीदारी-युक्त बेहतरी का संकेत दिया है। बीजेपी व कांग्रेस सरकारों की पहचान की राजनीति की गिरफ्त से आज़ाद होकर देश के हाशियेदार मुस्लिम समुदाय ने इंसाफ़, समानता व भागीदारी-युक्त बेहतरी के लिए वोट डाले हैं। भारतीय राजनीति की दिशा में यह मूलभूत बदलाव मुस्लिम समुदाय व भारतीय राज्य के संबंधों में महत्वपूर्ण बदलाव लाएंगे। पहचान, परिवार व समुदाय केंद्रित मुस्लिम-पुरुष हितों की रक्षा से हटकर इस चुनावी फैसले ने मुसलमानों को देश का नागरिक मानते हुए उनके समक्ष खड़े सामाजिक-आर्थिक चुनौतियों को तत्परता से संबोधित करने की ज़रूरत पर ज़ोर दिया है। यकीनन, सामाजिक-आर्थिक विकास व भागीदारी-युक्त विकास सुनिश्चित करके ही भारतीय राज्य मुसलमानों खासकर मुसलमान महिलाओं पर रूढ़िवादी व विभाज्य पहचान की राजनीति द्वारा किए नुक्सान की भरपाई करने की दिशा में कदम बढ़ा सकता है।

'हिजाब' के पीछे का सच

सादिया देहलवी

साल भर पहले की बात है, गोद में बच्चा लिए व सर पर स्कार्फ बांधे एक अफगानी महिला की केलिफोर्निया के फ्रीमाउंट शहर की सड़क पर सरेआम पर गोली मारकर हत्या कर दी गई थी। वह औरत मौका-ए-वारदात पर ही मर गई। इस घटना के बाद फ्रीमाउंट में सर पर स्कार्फ बांधकर एक विरोध यात्रा निकली जिसमें शहर की हर मज़हब की महिला शामिल थी। इस घटना से हम समझ सकते हैं कि आज के दौर में हिजाब का अर्थ क्या हो गया है। एक ऐसे विश्व में जहां मुसलमानों को आतंकवाद के साथ जोड़कर देखा जा रहा है, जहां वे नफरत और हिंसा का शिकार हो रहे हैं वहां अनेक जवान मुस्लिम महिलाएं इस्लामी पहचान और विरोध जताने के लिए हिजाब पहन कर बाहर निकल रही हैं।

हिजाब अधिकांश समय औरतों पर चर्चा के साथ जोड़कर देखा जाता है। कुरान के सूरा नूर में स्पष्ट दर्ज है: *हर विश्वास करने वाले पुरुष को चाहिए कि वह अपनी नज़र नीची रखे व मर्यादा का पालन करेः यह उन्हें अधिक पाक बनाएगा क्योंकि अल्लाह जानता है कि वे क्या कर रहे हैं। (कुरान 24:30)*

इसी के फौरन बाद यह भी लिखा है: *हर विश्वास करने वाली स्त्री को चाहिए कि वह अपनी नज़र नीची रखे व मर्यादा का पालन करेः उन्हें अपने ज़ेवर व खूबसूरती की नुमाइश नहीं करनी चाहिए सिवाय उसके जो सहज ही दिखता हो; उन्हें दुपट्टे से अपना सीना ढककर रखना चाहिए तथा अपनी सुन्दरता का प्रदर्शन केवल खाविंद, वालिद, ससुर व बेटों के सामने करना चाहिए। (कुरान 24:31)*

कुरान में यह भी स्पष्ट लिखा है; *मज़हब में कोई ज़बर्दस्ती नहीं होती। (कुरान 2:256)*

एक परम्परा थी जिसका पालन पैगम्बर साहब किया करते थे। वह अपने शिष्यों को हिदायत करते कि वे अपनी औरतों से सर ढकने की गुज़ारिश करें। इस्लाम का आधार खुदा व पैगम्बर साहब के प्रति प्रेम है। और प्रेम में जोर-ज़बर्दस्ती नहीं होती। इस्लाम में सब कुछ नीयत पर आधारित है। अगर आप पूरा दिन भूखे रहें पर आपका इरादा रोज़ा रखने का नहीं है तो आपको उसका सबाव नहीं मिलेगा। इसी तरह अगर एक औरत को हिजाब पहनने पर बाध्य किया जाए, या वह फैशन के लिए स्कार्फ या पगड़ी पहने तो उसे हिजाब नहीं समझा जाना चाहिए। पैगम्बर साहब बेहद कोमल व नर्म दिल थे, वे किसी पर ज़ोर-ज़बर्दस्ती नहीं करते थे, फिर चाहे सामने स्त्री हो या पुरुष। उनके साथी जब भी उन्हें एक अच्छे मुसलमान की परिभाषा बताने की गुज़ारिश करते तो वह कहते "वह जिसका चरित्र पाक हो"। पैगम्बर की शिक्षा का मूल मंत्र था अपने अंतर्मन को प्रेम और कोमल बनाने की नियमित कोशिश।

एक औरत को अपना पहनावा चुनने की आज़ादी होनी चाहिए। फ्रांस में विद्यार्थियों के स्कार्फ पहनने पर प्रतिबंध लगाना उतना ही दमनकारी व गलत है जितनी तालीबान का औरतों को पर्दे में रखने की ज़बर्दस्ती। पिछले वर्ष जर्मनी के सात राज्यों में शिक्षिकाओं के हिजाब पहनने पर प्रतिबंध लगा दिया गया। तुर्की में सार्वजनिक संस्थानों व सरकारी कर्मचारियों के हिजाब पहनने पर रोक है। इन सभी मामलों में औरत पर ज़बर्दस्ती व उसका प्रतीक के रूप में इस्तेमाल इस्लाम को पाक बनाने या उसे दकियानूसी

करार देने के लिए किया गया है। कुछ यूरोपीय देशों ने खुलेआम हिजाब को कट्टरवाद और अतिवाद का प्रतीक कहा है। दुनिया भर में मुस्लिम समाज हिजाब के विरोध को मुसलमानों के ख़िलाफ़ साज़िश के रूप में देखता है।

मिस्र से लेकर ईरान, इंडोनेशिया के मुस्लिम समाज में अनेक व्यवसायरत महिलाएं हिजाब पहनती हैं। यह उनका अपना चुनाव है और इसे दमन या ज़बर्दस्ती के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। हिजाब कई क्षेत्रों में संस्कृति व परम्परा का प्रतीक है। ग्रामीण भारत में आज भी अधिकांश औरतें अपना सर ढकती हैं चाहे वे किसी भी धर्म को मानती हों। भारत के मुस्लिम आबादी वाले इलाकों में जहां उन्हें शिक्षा या रोज़गार के अवसर नहीं मिल पाते वहां उनका विश्वास ही उनका इकलौता सहारा होता है और इसलिए उस विश्वास के प्रतीकों से वे खुद को बांधकर रखती हैं। शहरों में आजकल फैशन की परकाष्ठा दिखाई पड़ती है जिसमें आधुनिकता का अर्थ पश्चिमीकरण समझा जाता है। फ़िल्म व दूरदर्शन इस भुलावे को और अधिक बढ़ावा देते हैं। मेरी दादी-नानी बुर्का पहनती थीं परन्तु उनके विचार बेहद प्रगतिशील थे। मेरे अनेक नाते-रिश्तेदार हैं जो आर्किटेक्ट, डॉक्टर, वकील हैं और सर पर स्कार्फ बांधती हैं परन्तु यह उनकी अपनी मर्ज़ी है कोई दबाव का हिस्सा नहीं।

भारतीयों में जो मुझे बेहद अफसोसनाक लगता है वह है कि हम अपनी संस्कृति को भूलते व नकारते जा रहे हैं परन्तु आधुनिकता के पश्चिमी कायदों को आंख बंद करके अपना रहे हैं। अर्धनग्न रैंप पर चलती हुई मॉडल यह साबित करने की होड़ में लगी है कि भारत का दुनिया के नक्शे पर एक महत्वपूर्ण दर्जा है। और जो औरतें अपने जिस्म को ढककर रखती हैं या रखना चाहती हैं उन्हें हम रूढ़िवादी व दकियानूसी ठहरा रहे हैं।

यह बेहद अफसोसनाक है कि मीडिया भी मुसलमानों के प्रति पश्चिमी शब्दावली, अभिव्यक्ति व पूर्वग्रह अपना रहा है। वह भी पश्चिमी चलन का अनुसरण करके मुसलमानों को बेकार के मुद्दों में उलझाकर रखना चाहता है। खुद को मुस्लिम समुदाय का सरपरस्त समझने वाले नेताओं से सनसनीखेज़ खबरें बटोरकर मुस्लिम महिलाओं की रूढ़िवादी छवि को चर्चा का विषय बनाया जा रहा है। इस तरह की गैर ज़िम्मेदाराना सोच भारतीय मुसलमानों के सामने मुंह बाये खड़े गंभीर शैक्षिक, आर्थिक व ढांचागत भेदभाव के मुद्दे को दरकिनार व नज़रअंदाज़ कर देती है। मीडिया को चाहिए कि वह इस सवाल पर तवज्जो दे कि भारत अपने मुस्लिम नागरिकों को उनके जायज अधिकार प्रदान करने में कहां चूक गया है? और इस समुदाय का हर क्षेत्र में इतना कम प्रतिनिधित्व क्यों दिखाई पड़ता है? हमें अपनी ऊर्जा व ध्यान यथोचित सुधार प्रयासों में लगाना होगा।

"हमें मज़हब के नाम पर पुरुषों द्वारा इस्तेमाल की जाने वाली गैर ज़रूरी सत्ता के सामने खुद को झुकने से रोकना होगा। मज़हबी कानूनों की आड़ में पुरुष औरतों पर राज कर रहे हैं। इसलिए मज़हब का सवाल हमारी बहस का अहम मुद्दा बन गया है।"

रोकया हुसैन –1908

'तेहरा-तलाक'
क्या इस्लाम में इसकी इजाज़त है?

सईदा सैयदीन हमीद

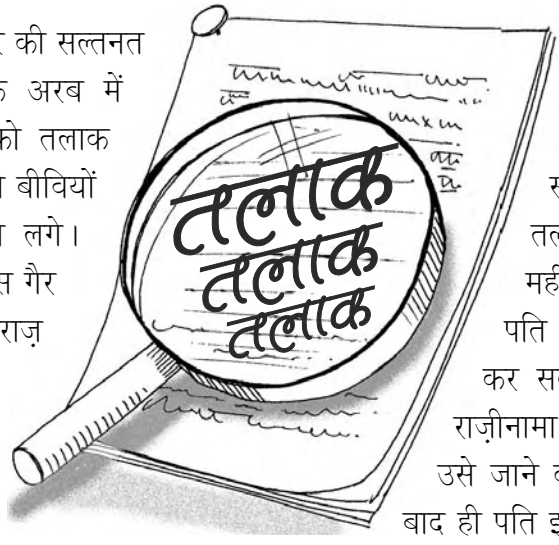

इस्लाम के दूसरे खलीफ़ा हज़रत उमर की सल्तनत के दौर में यह कहा जाता है कि अरब में एकाएक मर्दों ने अपनी बीवियों को तलाक देना शुरू कर दिया। वे अपनी-अपनी बीवियों को बिना कोई वजह बताए छोड़ने लगे। लोगों द्वारा कुरान में दर्ज बातों के इस गैर ज़िम्मेदाराना इस्तेमाल से खलीफ़ा नाराज़ हो गए और उन्होंने हुक्म जारी किया कि जो भी अपनी बीवी को तलाक देगा उसका सर कलम कर दिया जाएगा। इस किस्से को बेरुत के अलामा समसानी ने अपनी किताब *फलसफ़ा शरीयत-उल-इस्लाम* में बयान किया है। 'तेहरा मौखिक तलाक' किसी भी सूरत में इस्लाम के फलसफे के ख़िलाफ़ है। इस सुलूक को 'तलाक-ए-बिदत' यानी गलत तरह का तलाक कहा गया है।

कुरान में तलाक के लिए साफ तौर पर दर्ज हिदायत के तहत कोई भी तलाक लेने वाले मिंया-बीवी को चाहिए कि वो कुरान में बताई रवायतों को मानें। सबसे पहला 'तलाक' कहने के बाद और दूसरा 'तलाक' कहने के बीच एक मासिक चक्र यानी एक महीने का फ़र्क़ होना चाहिए। इसके बाद या तो औरत को बाइज़्ज़त आज़ाद कर दिया जाना चाहिए या अगर समझौता हो जाए तो मियां-बीवी साथ रह सकते हैं। हिदायत साफ़ है। 'तलाक' दो माह के फ़र्क़ पर दो दफ़ा कहा जाना चाहिए। यह एक माह का समय दोबारा सोचने, तय करने या समझौता करने के लिए होता है। यहां पर जो बात अहम है वह यह कि इतने ज़रूरी फैसले से पहले मियां-बीवी अच्छी तरह सोच-विचार कर लें और इस दौरान नाते-रिश्तेदार या दोस्त समझौता कराने में मदद करें। दूसरे तलाक के बाद एक बार फिर एक महीने की मोहलत मिलती है जिसमें पति दो में से एक रास्ता इख्तियार कर सकता है— या तो बीवी के साथ राज़ीनामा कर ले या तीसरा 'तलाक' कहकर उसे जाने की इजाज़त दे। तीसरे अंतराल के बाद ही पति इन दोनों में से एक रास्ता इख्तियार कर सकता है। ऐसा होने के बाद सबसे अहम हिदायत का पालन किया जाना चाहिए। अगर तलाक पूरा हो गया है तो उसे अपनी बीवी को *उससे बगैर कुछ वापस लिए जाने देना होगा।* तलाक की प्रक्रिया व तलाकशुदा महिला को लेकर कुरान में मर्द को हिदायत दी गई है कि औरत के प्रति जज़्बाती रुख अपनाए।

सूरा अल-बकर, 226 के भाग 241 में यही हिदायत एक दफ़ा दोबारा दर्ज की गई है जो मुसलमानों को याद कराती है कि तलाक जैसे नाज़ुक मसले में औरतों के साथ बेहद 'कोमल सुलूक' किया जाना चाहिए। कुरान में दर्ज है कि तलाकशुदा औरतों के साथ 'एहसान' व 'सुलूक' से पेश आना चाहिए। 'सभी नेक मर्दों के लिए यही सही है।' इसके साथ यह भी दर्ज किया गया है कि अगर तलाकशुदा औरत दोबारा निकाह करना चाहे तो उसके रास्ते में कोई मुश्किल पैदा नहीं की जानी चाहिए। इसी तरह अगर मर्द दूसरी बीवी लाना चाहता है तो उसे हिदायत दी

जाती है कि वह अपनी पहली बीवी से कुछ भी वापस न ले फिर चाहे वह एक 'किंतार' सोने का ढेर ही क्यों न हो। *सूरा निसा की आयत 20* में यह भी लिखा है कि मुसलमानों को चाहिए कि वे मेहर निकाह के वक्त ही अदा कर दें। हां, अगर बीवी चाहे तो मेहर की अदायगी अपनी मर्ज़ी से मुल्तवी कर सकती है।

कुरान में तलाक की इजाज़त केवल एक ही सूरत में दी गई है— जब शादी में समझौते की कत्तई गुंजाइश न बाकी हो। इस पर भी यह ध्यान दिया गया है कि अलगाव इज़्ज़त और राज़ीनामे के साथ हो व औरत को किसी भी किस्म की तकलीफ या बदसलूकी न सहनी पड़े। फटाफट तीन दफ़ा तलाक, तलाक, तलाक कह देना, या पोस्टकार्ड पर तीन दफ़ा तलाक लिखकर भेजना या किसी कागज़ के टुकड़े पर काज़ी के दस्तखत करवाकर तलाक की रज़ामंदी लेना इस्लाम के ख़िलाफ़ है। कोई भी मौलवी, मौलाना या इमाम इस तरह के तलाक को जायज़ और इस्लाम के कायदों के हिसाब से सही करार नहीं दे सकता।

जिस तरह मर्द को तलाक देने की इजाज़त है उसी तरह औरत को भी 'खुला' लेने की आज़ादी है। इसमें भी इस्लाम मियां-बीवी को बराबर के हक़ देता है। मौलाना अबुल कलाम आज़ाद, जिन्होंने कुरान का स्पष्टीकरण किया है, मानते हैं कि 'हुस्न-ए-सुलूक' यानी अच्छे व्यवहार में मर्द और औरत के पास समान हक़ होते हैं। *सूरा अल-बकर की आयत 229* में दर्ज है कि औरत अगर चाहे तो अपनी तकलीफदेह शादी 'खुला' लेकर तोड़ सकती है। इसके लिए उसे काज़ी के पास जाना होगा हालांकि मर्दों को तलाक के लिए किसी काज़ी के पास नहीं जाना पड़ता।

मौलाना आज़ाद अपनी व्याख्या में यह भी बताते हैं कि 'खुला' का नियम औरत की सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए बनाया गया था। अगर अपनी तकलीफों से निजात पाने के लिए औरत 'खुला' चाहती है और इसके लिए अपनी मेहर का कुछ हिस्सा माफ कर देती है तो इस्लाम उसे ऐसा करने की इजाज़त देता है।

यह सच्चाई बौखला देने वाली है क्योंकि आम चलन यह है कि एक नेक बीवी पूरी मेहर की रकम माफ कर देती है। ज़्यादातर औरतें अपने हक़ बिना जाने-समझे मेहर माफ कर देती हैं और जब शौहर तलाक दे देता है तब उनके पास कुछ भी नहीं रहता। पर इस्लाम में यह साफ लिखा है कि अगर औरत भी तलाक ले तब भी उसे मेहर लेने का हक़ है और वह माफ तभी की जा सकती है जब औरत अपनी आज़ादी के एवज़ में ऐसा करे। पर आमतौर पर 'खुला' लेने वाली औरत को अपनी मेहर माफ करनी ही पड़ती है।

पूरी बात का सच यह है कि हम मुसलमान लोग उन हिदायतों को मानते हैं जिनमें हमें अपना फायदा नज़र आता है। हम 'तेहरा तलाक' मानते हैं, अनेक शादियां करते हैं, मेहर और गुज़ारा भत्ता देने से कतराते हैं। अपने इस बर्ताव को मज़हब के नाम पर सच साबित करने की कोशिशें करते हैं तथा अपने मज़हबी कानूनों की दुहाई देते हैं। पर इस्लाम के कानूनों की मुखालफ़त करने में हमें ज़रा भी परहेज़ नहीं होता। हम तलाक तो देते हैं पर इस्लाम की हिदायतों को मानते नहीं हैं। हम दूसरी शादी के लिए ज़रूरी शर्तों को पूरा किए बगैर शादियां करते हैं। हमारे इसी व्यवहार की वजह से पूरी दुनिया इस्लाम को सबसे ज़्यादा महिला विरोधी मज़हब समझती है। और दुनिया के इस गलत नज़रिए के लिए हम मुसलमान लोग ही ज़्यादा ज़िम्मेदार हैं। अब वक्त आ गया है कि हम खुद को सुधारने की कोशिश करें और अपनी गलतियों के लिए मज़हब का इस्तेमाल बंद कर दें।

साभारः विमेंस फीचर सर्विस

लेख

मीडिया की नज़र में मुस्लिम महिलाएं

सबीना किदवई

मुस्लिम महिलाओं के चित्रण को समझने की ज़रूरत इस सच्चाई से उभरती है कि वे भारत व इस्लामी दुनिया में मुस्लिम महिला की छवि का प्रतीक है तथा इस्लामी कट्टरवाद से पीड़ित व उसकी सबसे अहम प्रदर्शक भी हैं। पश्चिमी मीडिया इस्लामी पुनरुत्थान को महिलाओं के दमन के लिए ज़िम्मेदार मानता है तथा इस्लाम व मुसलमान पुरुष को इस दमन का कर्त्ता। जहां तक भारतीय संदर्भ का सवाल है वहां मुस्लिम महिलाएं अल्पसंख्यक राजनीति से ग्रस्त समझी जाती हैं तथा मीडिया इनकी भूमिका को समुदाय के भीतर ही सीमित मानता है। भारतीय मीडिया में मुस्लिम महिलाओं का चित्रण समाज के मौजूद कायदे-मान्याताओं के अनुकूल है तथा इस्लाम व मुस्लिम महिलाओं की प्रचलित धारणाओं को पुनर्स्थापित करता है। मुस्लिम समुदाय खबरों में तभी आता है जब उससे जुड़ा कोई जटिल मुद्दा उभरता है और मुस्लिम महिलाएं व *मुस्लिम पर्सनल लॉ* इस नकारात्मक रवैये में विशेष अहमियत पाते हैं। नतीजतन मीडिया भारतीय समाज में इस्लाम व मुसलमानों की पूर्वग्रह ग्रस्त छवि को वैधता प्रदान करता है। इन सभी कारकों की समीक्षा करने के लिए हम तीन अंग्रेज़ी अखबारों— *द हिंदू, द टाइम्स ऑफ़ इण्डिया* व *हिन्दुस्तान टाइम्स,* पत्रिका-*इण्डिया टुडे* तथा दूरदर्शन कार्यक्रम-*न्यूज़ट्रैक* व *आई विटनेस* पर गौर करेंगे।

सन् 1990-2001 के बीच मुस्लिम समुदाय से जुड़ी तमाम खबरों को मीडिया ने भारतीय समाज के सभी आयामों से अलग मानकर उनकी समस्याओं के लिए पूरी तरह इस्लाम को ज़िम्मेदार ठहराया। 1990 का दौर राजनैतिक व सामाजिक परिवर्तन का दौर था। सामुदायिक संघर्ष व साम्प्रदायिक राजनीति में बढ़ोत्तरी हुई तथा मुस्लिम महिलाओं को उनके समुदाय का प्रतिनिधि माना गया। मीडिया ने भी इसी छवि को बढ़ावा दिया हालांकि बाबरी मस्जिद विध्वंस, "इस्लामी आतंकवाद" व *मुस्लिम पर्सनल लॉ* भी अहम मुद्दे थे। मीडिया का भी धर्मनिरपेक्ष

रुख धीरे-धीरे घटने लगा जिसके कारण मीडिया द्वारा प्रसारित विचार धारणाएं व नज़रिये उपभोक्ताओं के दिलों दिमाग पर अमिट सच्चाई के रूप में अंकित हो गए हैं।

मीडिया समीक्षा से यह स्पष्ट हुआ है कि जहां मुस्लिम समुदाय की बात हो वहां मुद्दा चाहे हैदराबाद की बाल वधुओं का हो, चाहे कश्मीरी औरतों को जबरन बुर्का पहनाने का, मीडिया की तवज्जो सदैव इस मुद्दों के धार्मिक-राजनैतिक विस्तार पर केंद्रित रही है। पिछले दर्शकों के अखबारों की खबरों पर अगर नज़र डालें तो हम पाएगें कि मुस्लिम महिलाएं सुर्खियों में तभी नज़र आई हैं जब वे किसी धार्मिक विरोधाभास का हिस्सा रही हों और तब भी उनका दर्जा मात्र चर्चा में "विषय" का रहा है। यदा-कदा मीडिया ने मुस्लिम महिला अधिकारों के संघर्ष को सहयोग प्रदान किया है तब भी उसने मुस्लिम महिलाओं के विचारों को नज़रअंदाज़ करने में कोई कसर नहीं छोड़ी है। जब स्पष्ट सामाजिक-आर्थिक आयाम वाले मुद्दे उभरते हैं तब भी मीडिया ने उनको एक धार्मिक रंग में ढाल दिया है जिसके कारण महिला अधिकारों के संघर्ष केवल उनके समुदाय के धार्मिक नेताओं व पुरुषों को सम्बोधित करने वाले प्रतीत होते हैं।

एक स्तर पर अखबारों ने प्रगतिशील मुस्लिम अकादमिकों के विचारों को भी उजागर करके मुस्लिम महिलाओं के प्रति अपनी सहानुभूति जताने की कोशिश की है। पर वहीं दूसरी ओर पूर्वग्रह ग्रस्त सामाजिक व राजनैतिक विचारों के प्रभाव ने मुस्लिम पुरुषों के लिए बढ़ती शत्रुता को बढ़ावा दिया। इसके अलावा यह प्रतीत हुआ कि महिलाओं के प्रति यह सहानुभूति उनकी भुक्तभोगी और पीड़ित की पारम्परिक छवि के जवाब में थी। मीडिया में छपी खबरों में मुस्लिम महिलाओं के मुद्दे और उनके विचार पूरी तरह नज़रअंदाज़ किये गये थे। मौजूदा मुद्दों पर मुस्लिम महिलाओं की प्रतिक्रिया सुनिश्चित करने के कोई शोध या सर्वेक्षण नहीं किया गया था। मुद्दों से जुड़े राजनैतिक, धार्मिक, कानूनी व मनोवैज्ञानिक आयाम सर्वोपरि रहे और महिलाएं व उनके पक्ष महज मूक दर्शक बनकर रह गये।

मुस्लिम महिलाओं से जुड़ी घटनाओं को महिला अधिकारों की बहस की श्रेणी में न रखकर मीडिया ने इन्हें केवल दो पक्षों के बीच, शरीयत के विश्लेषण को लेकर विरोध तक सीमित रखा। लेखों-सम्पादकियों में *मुस्लिम पर्सनल लॉ* पर ही चर्चाएं चलीं फिर मुद्दा चाहे बाल वधुओं का हो, या 'तेहरा' मौखिक तलाक की धार्मिक वैधता का रहा हो। इन सभी बहसों ने यह मान लिया था कि मुस्लिम समुदाय एक अखण्डित समूह है जिसको परिभाषित करने वाला इकलौता कारण है इस्लाम। इसका परिणाम यह हुआ कि मीडिया ने अन्य इस्लामी देशों में महिलाओं के दर्जे को लेकर बहस व चर्चाएं शुरू कर दीं और उनको इस्लामी कट्टरवाद से बढ़ती चिंताओं की ओर मोड़ दिया।

नब्बे के दशक में युवा बुर्का पहने लड़की की छवि मीडिया में उभरती दिखाई दी और इसने एक मूक, अदृश्य मुस्लिम महिला को तस्वीर को समाज के सामने साकार कर दिया। आने वाले सालों में यही छवि समाज में व्याप्त रही और मुस्लिम महिला को सदैव अपने समुदाय का प्रतीक माना जाता रहा। वह अदृश्य बनी रही, उस पर बहसें, चर्चाएं, विश्लेषण, सुधार सभी हुए परन्तु एक जीती जागती महिला के रूप में या व्यक्ति के तौर पर उसे हक़ व पहचान नहीं मिली। ज़्यादा से ज़्यादा उसे सहानुभूति मिली कि वह कट्टरवादियों के शिकंजे का एक मोहरा है। *मुस्लिम पर्सनल लॉ* और 'तेहरा' तलाक के तहत उसके दमन पर लेख, फीचर आदि बड़ी संख्या में छपे। उसे शोषण को मुस्लिम समुदाय पर शोध का

एक साधन मानकर दूरदर्शन, वीडियो, पत्रिकाओं और अखबारों में सनसनीखेज़ खबरें बनीं।

कुछ शिक्षाविदों, जिनमें असगर अली इंजीनियर का नाम मुख्य है ने भी इस दौरान कुछ महत्वपूर्ण मुद्दे उठाए। अपने लेखों में उन्होंने *मुस्लिम पर्सनल लॉ* के मौलवियों द्वारा दुरूपयोग की बात की, हालांकि उनका नज़रिए सुरक्षात्मक ही रहा। कुछ अखबारों के लेखों में *मुस्लिम पसर्नल लॉ बोर्ड* की भूमिका तथा कानूनों को सूत्रबद्ध करने की ज़रूरत पर ज़ोर भी दिया गया।

दूरदर्शन की कहानियों में जटिल परन्तु छुट-पुट घटनाओं को रूढ़िबद्ध तरीकों से पेश करने की क्षमता अखबारों से अधिक होती है। ये रूढ़िबद्ध छवि सिर्फ़ महिलाओं तक सीमित नहीं रहीं बल्कि इसने पूरे समुदाय का एक ऐसा ढांचा पेश किया जिसे हम आज भी मानते हैं। एक साथ नमाज़ पढ़ते मुसलमान पुरुष, बुर्का पहने औरतें, जामा मस्जिद, पुश्तैनी हवेलियां, संकरे रास्ते ये तमाम छवियां आज भी पूरे समुदाय को प्रतिबिम्बित करती हैं। 'तेहरा' तलाक का मुद्दा इन छवियों की शुरूआत थी। यानी हम यह देख रहे हैं कि जब कोई जेंडर संबंधी मुद्दे में राजनैतिक आयाम का अभाव होता है तब उसकी रिपोंटिग ज़्यादा सकारात्मक व पूर्वग्रह रहित होती है।

जब 1993-94 में तलाक का मुद्दा सामने आया तब उसे फौरन बाबरी मस्जिद विध्वंस व अल्पसंख्यक असुरक्षा के साथ जोड़ दिया गया तथा मुस्लिम महिलाओं के मुद्दे उसी राजनैतिक परिप्रेक्ष में रख दिये गये। सन् 2000 में इन्हीं मुद्दों को मीडिया ने अलग नज़रिये से आंका क्योंकि ये किसी राजनैतिक घटना से जुड़े नहीं थे बल्कि इन्हें महिला संगठनों ने जेंडर मुद्दों की तरह उठाया था। इन दोनों में बस एक समानता थी-मुस्लिम महिलाएं समुदाय के भीतर ही सीमित रहीं और उनसे जुड़े सभी मुद्दे इस्लाम के तहत देखे गये।

1993-94 की खबरों में इस्लाम का एक नकारात्मक चित्रण दिखाई दिया जबकि 2000-01 में धर्म के सकारात्मक पहलुओं को उजागर करके महिलाओं को एक सशक्त आवाज़ प्रदान की गई। इस सदी का सबसे महत्वपूर्ण पहलू है मुस्लिम महिलाओं की पीड़ित व भुक्तभोगी की छवि से आज़ादी तथा उनके अधिकारों के प्रति एक बढ़ती हुई संवेदनशीलता। पर मीडिया के इस परिवर्तन के बावजूद मुस्लिम महिला अभी भी समुदाय के सीखचों में कैद है और उसकी पहचान अभी भी उसके धर्म से ही होती है।

पर ये जेंडर संवदेलशीलता केवल उन्हीं मुद्दों तक सीमित नज़र आती है जिनका कोई राजनैतिक महत्व नहीं है। सितम्बर 2001 में जब कश्मीरी महिलाओं को ज़बर्दस्ती बुर्का पहनाने की खबर आई तो मीडिया ने इसे महिला अधिकार हनन की तरह न उठाकर इसे कश्मीरी आंदोलन के जेहादी आयाम व तालीबान से इसके संबंध को उजागर किया। एक बार फिर मुस्लिम महिला की रूढ़िबद्ध छवि जिसे इस्लाम ने दबा रखा था समाज के सामने स्थापित हो गई और सितम्बर 11 की घटना ने इसको राजनैतिक आयाम प्रदान किया।

मुस्लिम समुदाय में मौजूद सामाजिक और सांस्कृतिक विविधता को स्वीकारने का अभाव मुस्लिम महिलाओं के प्रतिनिधित्व को रेखांकित करता है। पिछले दशक की समछेदी घटनाएं इस बात का सबूत हैं कि मीडिया द्वारा गढ़ी छवियां राजनैतिक और सामाजिक प्रवृत्तियों के साथ मिलकर जन विचारधारा और नज़रिए को किस तरह रचती व पुनर्स्थापित करती हैं। बर्बर मुस्लिम पुरुष व गरीब, सहानुभूति पाने वाली मुस्लिम महिला ये दोनों छवियां ही समाज में स्वीकार्य हैं। *शाहबानो विवाद* से उभरने वाली इस प्रवृत्ति ने नब्बे के दौर में एक निश्चित आकार पाया और सदी के अन्त तक इस छवि को एक वैधता मिली। नब्बे में हुई नकारात्मक मीडिया रिपोर्टिंग ने कुछ सकारात्मक खबरों और रिपोर्टिंग को भी अपने साये तले ढक दिया।

पिछले दशकों में मीडिया ने सिलसिलेवार तरीकों से मुस्लिम महिलाओं व समुदाय की प्रचलित गलतफहमियों

को वैध करार देने में अहम भूमिका अदा की है। मीडिया द्वारा प्रदर्शित मुस्लिम महिला की छवि आज भी समुदाय में गहरे पैठी है और अगर खबरों की रिर्पोटिंग सकारात्मक भी हो तो भी यह महिला "मुस्लिम महिला" की गिरफ़्त से आज़ाद होकर कोई अलग रूप में नहीं देखी जाती। मुस्लिम महिलाओं का मीडिया में चित्रण मुस्लिम समुदाय के प्रति पूर्वग्रहों को मज़बूत करता है पर ये प्रवृत्ति गैर मुस्लिम महिलाओं संबंधी जेंडर मुद्दों की रिर्पोटिंग में नहीं पाई जाती। यह अवश्य है कि प्रेस में महिलाओं पर हिंसा की रिर्पोटिंग में जेंडर पूर्वग्रह निहित होते हैं परन्तु इन पूर्वग्रहों का उपयोग किसी एक समुदाय की निन्दा करने के लिए नहीं किया जाता जैसा कि मुस्लिम समुदाय के संबंध में हुआ है।

आज हम वापस फिर 1993 के दौर में पहुंच गये हैं जबकि गुजरात नरसंहार से गुज़रने वाला समुदाय खुद में सिमटने को बाध्य हो गया है और एक बार फिर महिलाओं के मुद्दे दरकिनार हो गये हैं। अंग्रेज़ी प्रेस ने धर्म निरपेक्षता के प्रति अपनी प्रतिबद्धता दोहराते हुए सरकार की नीतियों की आलोचना की है और गुजरात के मुस्लिम समुदाय को अपना सहयोग प्रदान किया है। इसके बावजूद किसी भी रिर्पोटर ने 'हिंसक इस्लाम' की मीडिया स्थापित छवि को चुनौती देने का साहस नहीं दिखाया है। आज मीडिया यह स्पष्ट रूप से समझ चुका है कि गुजरात नरसंहार का ज़िम्मेदार पूरा हिंदू समुदाय नहीं है बल्कि उनकी पहचान बीजेपी/आरएसएस/वीएचपी के नाम से की जा रही है। ऐसा करके मीडिया ने जटिलताओं और विविधता को स्वीकारा है। पर अब यह देखना है कि ये स्वीकृति किसी बड़ी आलोचनात्मक चेतना की सूचक है या ऐसा केवल इसलिए है क्योंकि मीडिया नहीं चाहता कि उसे बीजेपी/आरएसएस/वीएचपी के सहयोगी के रूप में देखा जाए।

सन् 2001 में दिल्ली के ग्यारह कालेजों में एक सर्वेक्षण किया गया जिसमें छात्र-छात्राओं से मुस्लिम महिलाओं से संबंद्ध मुद्दों तथा "इस्लामी आतंकवाद", जेहाद जैसे शब्दों पर नज़रिया प्रस्तुत करने को कहा गया। अधिकांश जवाब देने वालों (खासकर गैर-मुस्लिम) ने अपनी जानकारी का स्रोत दूरदर्शन व अखबार पत्रिका को बताया। उन्होंने मुस्लिम महिला को इस्लाम व इस्लामी आतंकवाद से पीड़ित बताया। कुछ ने कहा कि मीडिया द्वारा दी गई जानकारी व छवियां सही हैं और इसलिए वे अपनी रोज़मर्रा की ज़िंदगी में मुस्लिमों के साथ दोस्ती नहीं रखते। यह विचार कि मुस्लिम महिला, मुस्लिम पर्सनल लॉ से पीड़ित है बहुत व्यापक था और काफी जवाब देने वालों ने उसकी सभी समस्याओं के लिए इस्लाम के अंतर्गत उसके असमान दर्जे को ज़िम्मेदार ठहराया। यह सर्वेक्षण विस्कॉम्प के स्कॉलर ऑफ़ पीस कार्यक्रम के लिए किया गया था।

यह लेख विसकॉम्प (विमेन इन सिक्योरिटी, कनफ्लिक्ट मैनेजमेंट एण्ड पीस) के स्कॉलर ऑफ़ पीस कार्यक्रम के अंतर्गत किए अध्ययन 'मीडिया में मुस्लिम महिलाओं का चित्रण' (रेपरिसेटेंशन ऑफ़ मुस्लिम विमेन इन द मीडिया) पर आधारित है।

कहानी

लिहाफ़

इस्मत चुगताई

जब मैं जाड़ों में लिहाफ़ ओढ़ती हूं तो पास की दीवार पर उसकी परछाई हाथी की तरह झूमती हुई मालूम होती है। और एकदम से मेरा दिमाग बीती हुई दुनिया के पर्दों में दौड़ने-भागने लगता है। न जाने क्या कुछ याद आने लगता है।

माफ़ कीजिएगा, मैं आपको ख़ुद अपने लिहाफ़ का रूमानी ज़िक्र बताने नहीं जा रही हूं, न लिहाफ़ से किसी क़िस्म का रूमान जोड़ा ही जा सकता है। मेरे ख़याल में कम्बल कम आरामदेह सही, मगर उसकी परछाई इतनी भयानक नहीं होती जितनी-जब लिहाफ़ की परछाई दीवार पर डगमगा रही हो। यह जब का ज़िक्र है, जब मैं छोटी सी थी और दिन-भर भाइयों और उनके दोस्तों के साथ मार-कुटाई में गुज़ार दिया करती थी। कभी-कभी मुझे ख़याल आता कि मैं कमबख़्त इतनी लड़ाका क्यों थी? उस उम्र में जबकि मेरी और बहनें आशिक़ जमा कर रही थीं, मैं अपने-पराये हर लड़के और लड़की से जूतम-पैजार में मशगूल थी।

यही वजह थी कि अम्मा जब आगरा जाने लगीं तो हफ़्ता-भर के लिए मुझे अपनी एक मुंहबोली बहन के पास छोड़ गयीं। उनके यहां, अम्मा खूब जानती थीं कि चूहे का बच्चा भी नहीं और मैं किसी से भी लड़-भिड़ न सकूंगी। सज़ा तो खूब थी मेरी! हां, तो अम्मा मुझे बेगम जान के पास छोड़ गयीं। वही बेगम जान जिनका लिहाफ़ अब तक मेरे ज़ेहन में गर्म लोहे के दाग की तरह महफ़ूज़ है। ये वो बेगम जान थीं जिनके गरीब मां-बाप ने नवाब साहब को इसलिए दामाद बना लिया कि वह पकी उम्र के थे मगर निहायत नेक। कभी कोई रण्डी या बाज़ारी औरत उनके यहां नज़र न आयी। खुद हाजी थे और बहुतों को हज करा चुके थे।

मगर उन्हें एक निहायत अजीबो-गरीब शौक था। लोगों को कबूतर पालने का जुनून होता है, बटेरें लड़ाते हैं, मुर्ग़बाजी करते हैं- इस क़िस्म के वाहियात खेलों से नवाब साहब को नफ़रत थी। उनके यहां तो बस रहते थे नौजवान, गोरे-गोरे पतली कमरों के लड़के, जिनका ख़र्च वे खुद बर्दाश्त करते थे।

मगर बेग़म जान से शादी करके तो वे उन्हें कुल साज़ो-सामान के साथ ही घर में रखकर भूल गये। और वह बेचारी दुबली-पतली नाज़ुक सी बेगम तन्हाई के गम में घुलने लगीं। न जाने उनकी ज़िन्दगी कहां से शुरू होती है? वहां से जब वह पैदा होने की गलती कर चुकी थीं, या वहां से जब वह एक नवाब की बेगम बनकर आयीं और छपरखट पर ज़िन्दगी गुज़ारने लगीं, या जब से नवाब साहब के यहां लड़कों का ज़ोर बंधा। उनके लिए हलवे और लज़ीज़ खाने जाने लगे और बेगम जान दीवानख़ाने की दरारों में से उनकी लचकती कमरोंवाले लड़कों की चुस्त पिण्डलियां और बारीक शबनम के कुर्ते देख-देखकर अंगारों पर लोटने लगीं।

तब से वह मन्नतों-मुरादों से हार गयीं, चिल्ले बंधे और टोटके और रातों के इंतज़ार भी चित हो गए। कहीं पत्थर में जोंक लगती है! नवाब साहब अपनी जगह से टस-से-मस न हुए। फिर बेगम जान का दिल टूट गया और वह इल्म की तरफ झुक गईं। लेकिन यहां भी उन्हें कुछ न मिला। रूमानी नावेल और जज़्बाती शेर पढ़कर और भी पस्ती छा गयी। रात की नींद भी हाथ से गयी और बेगम जान जी-जान छोड़कर बिल्कुल ही हसरतों की पोट बन गयीं।

चूल्हे में डाला था ऐसा कपड़ा-लत्ता। कपड़ा पहना जाता है किसी पर रोब गांठने के लिए। अब न तो नवाब साहब को फ़ुर्सत कि शबनमी कुर्तों को छोड़कर ज़रा इधर ध्यान करें और न वे उन्हें कहीं अपने-जाने देते। जब से बेगम

जान ब्याहकर आयी थीं, रिश्तेदार आकर महीनों रहते और चले जाते, मगर वह बेचारी क़ैद की क़ैद रहतीं।

उन रिश्तेदारों को देखकर और भी उनका खून जलता था कि सबके-सब मज़े से माल उड़ाने, उम्दा घी निगलने, जाड़े का साज़ो-सामान बनवाने आन मरते और वह बावजूद नयी रूई के लिहाफ़ के, सर्दी में अकड़ा करतीं। हर करवट पर लिहाफ़ नयी-नयी सूरतें बनाकर दीवार पर साया डालता। मगर कोई भी साया ऐसा न था जो उन्हें ज़िन्दा रखने के लिए काफ़ी हो। मगर क्यों जिये फिर कोई? ज़िन्दगी! बेगम जान की ज़िन्दगी जो थी! जीना बदा था नसीबों में, वह फिर जीने लगीं और खूब जीं।

रब्बो ने उन्हें नीचे गिरते-गिरते संभाल लिया। चटपट देखते-देखते उनका सूखा जिस्म भरना शुरू हुआ। गाल चमक उठे और हुस्न फूट निकला। एक अजीबो-गरीब तेल की मालिश से बेगम जान में ज़िन्दगी की झलक आयी। माफ़ कीजियेगा, उस तेल का नुस्ख़ा आपको बेहतरीन-से बेहतरीन रिसाले में भी न मिलेगा।

जब मैंने बेगम जान को देखा जो वह चालीस-बयालीस की होंगी। ओफ्फोह! किस शान से वह मसनद पर टिकीं थीं और रब्बो उनकी पीठ से लगी बैठी कमर दबा रही थी। एक ऊदे रंग का दुशाला उनके पैरों पर पड़ा था और वह महारानी की तरह शानदार मालूम हो रही थीं। मुझे उनकी शक्ल बेइन्तहा पसन्द थी। मेरा जी चाहता था, घण्टों बिल्कुल पास से उनकी सूरत देखा करूं। उनकी रंगत बिल्कुल सफ़ेद थी। नाम को सुर्खी का ज़िक्र नहीं। और बाल स्याह और तेल में डूबे रहते थे। मैंने आज तक उनकी मांग ही बिगड़ी न देखी। क्या मजाल जो एक बाल इधर-उधर हो जाये। उनकी आंखें काली थीं और भंवे कमानें-सी खिंची होती थीं। आंखें ज़रा तनी हुई रहती थीं। भारी-भारी फूले हुए पपोटे, मोटी-मोटी पलकें। पर सबसे ज़्यादा जो उनके चेहरे पर खूबसूरत चीज़ थी, वह उनके होंठ थे। वह सुर्खी से रंगे रहते थे। ऊपर के होंठ पर हल्की-हल्की मूंछें-सी थीं और कनपटियों पर लम्बे-लम्बे बाल। कभी-कभी उनका चेहरा देखते-देखते अजीब सा लगने लगता था-कम उम्र लड़कों-जैसा।

उनके जिस्म की खाल भी सफ़ेद और चिकनी थी। मालूम होता था किसी ने कसकर टांके लगा दिए हों। जब वह अपनी पिण्डलियां खुजातीं तो मैं चुपके-चुपके उनकी चमक देखा करती। उनका कद बहुत लम्बा था और फिर गोश्त होने की वजह से वह बहुत सी लम्बी-चौड़ी मालूम होती थीं। लेकिन बहुत तराशा और ढला हुआ जिस्म था। बड़े-बड़े चिकने और सफ़ेद हाथ और सुडौल कमर... तो रब्बो उनकी पीठ खुजाया करती थी। यानी घण्टों उनकी पीठ खुजाती-पीठ खुजाना भी ज़िन्दगी की ज़रूरतों में था, बल्कि शायद ज़िन्दगी से भी ज़्यादा ज़रूरी।

रब्बो को घर का और कोई काम न था। बस वह सारे वक्त उनके छपरखट पर चढ़ी कभी पैर, कभी सिर और कभी जिस्म के और दूसरे हिस्से को दबाया करती थी। कभी तो मेरा दिल बोल उठता था, जब देखो रब्बो कुछ न कुछ दबा रही है या मालिश कर रही है। कोई दूसरा होता तो न जाने क्या होता? मैं अपना कहती हूं, कोई इतना करे तो मेरा जिस्म तो सड़-गल के ख़त्म हो जाय।

और फिर यह रोज़-रोज़ की मालिश काफ़ी नहीं थी। जिस रोज़ बेगम जान नहातीं, या अल्लाह! बस दो घंटा पहले से तेल और खुशबूदार उबटनों की मालिश शुरू हो जाती। कमरे के दरवाज़े बन्द करके अंगीठियां सुलगतीं और चलता मालिश का दौर। वहां सिर्फ़ रब्बो ही रहती। बाकी की नौकरानियां बड़बड़ातीं, दरवाज़े पर से ही, ज़रूरत की चीज़ें देती जातीं।

बात यह थी कि बेगम जान को खुजली का रोग था। बेचारी को ऐसी खुजली होती थी कि हज़ारों तेल और उबटन मले जाते थे, मगर खुजली थी कि कायम। डाक्टर-हकीम कहते, 'कुछ भी नहीं, जिस्म साफ़ चट पड़ा है। हां, कोई अन्दर बीमारी हो तो खैर।' 'नहीं भी, ये डॉक्टर तो हैं पागल! अल्लाह रखे, खून में गर्मी है!' रब्बो मुस्कराकर कहती, महीन-महीन नज़रों से बेगम जान को घूरती! ओह यह रब्बो! जितनी यह बेगम जान गोरी थीं उतनी ही यह काली। जितनी बेगम जान

सफ़ेद थीं, उतनी ही यह सुर्ख। बस जैसे तपाया हुआ लोहा। हल्के-हल्के चेचक के दाग। गठा हुआ ठोस जिस्म। फुर्तीले छोटे-छोटे हाथ। कसी हुई छोटी-सी तोंद। बड़े-बड़े फूले हुए होंठ, जो हमेशा नमी में डूबे रहते और जिस्म में से अजीब घबराने वाली बू। और ये नन्हें-नन्हें फूले हुए हाथ किस क़दर फुर्तीले थे! अभी कमर पर, तो वह लीजिए फिसलकर गये कूल्हों पर! वहां से रपटे रानों पर और फिर दौड़े टखनों की तरफ़! मैं तो जब कभी बेगम जान के पास बैठती, यही देखती कि अब उसके हाथ कहां हैं और क्या कर रहे हैं?

गर्मी-जाड़े बेगम जान हैदराबादी जाली के कुर्ते पहनतीं। गहरे रंग के पाजामे और सफ़ेद झाग-से कुर्ते। और पंखा भी चलता हो, फिर भी वह हल्की दुलाई ज़रूर जिस्म पर ढके रहती थीं। उन्हें जाड़ा बहुत पसन्द था। जाड़े में मुझे उनके यहां अच्छा मालूम होता। वह हिलती-डुलती बहुत कम थीं। कालीन पर लेटी हैं, पीठ खुज रही है, मेवे चबा रही हैं और बस! रब्बो से दूसरी सारी नौकरानियां खार खाती थीं। चुड़ैल बेगम जान के साथ खाती, साथ उठती-बैठती और माशा अल्लाह! साथ ही सोती थी! रब्बो और बेगम जान आम जलसों की दिलचस्प रौनक थीं। जहां उन दोनों का ज़िक्र आया और कहकहे उठे। लोग न जाने क्या-क्या चुटकुले उड़ाते, मगर वह दुनिया में किसी से मिलती ही न थी। वहां तो बस वह थीं और उनकी खुजली!

मैंने कहा कि उस वक़्त मैं काफ़ी छोटी थी और बेगम जान पर फिदा। वह भी मुझे बहुत ही प्यार करती थीं। इत्तफाक से अम्मा आगरा गयीं। उन्हें मालूम था कि अकेले घर में भाइयों से मार-कुटाई होगी, मारी-मारी फिरूंगी, इसलिए वह हफ्ता-भर के लिए बेगम जान के पास छोड़ गयीं। मैं भी ख़ुश और बेगम जान भी ख़ुश। आख़िर वह अम्मा की भाभी बनी हुई थीं।

सवाल यह उठा कि मैं सोऊं कहां? कुदरती तौर पर बेगम जान के कमरे में। लिहाज़ा मेरे लिए भी उनके पलंग से लगाकर छोटी-सी पलंगड़ी डाल दी गयी। दस-ग्यारह बजे तक तो बातें करते रहे। मैं और बेगम जान चांस खेलते रहे और फिर मैं सोने के लिए अपने पलंग पर चली गयी। और जब मैं सोयी तो रब्बो वैसी ही बैठी उनकी पीठ खुजा रही थी। 'भंगन कहीं की!' मैंने सोचा। रात को मेरी एकदम से आंख खुली तो मुझे अजीब तरह का डर लगने लगा। कमरे में घुप अंधेरा। और उस अंधेरे में बेगम जान का लिहाफ़ ऐसे हिल रहा था, जैसे उसमें हाथी बन्द हो!

"बेगम जान!"

मैंने डरी हुई आवाज़ निकाली। हाथी हिलना बन्द हो गया। लिहाफ़ नीचे दब गया।

"क्या है? सो जाओ।"

बेगम जान ने कहीं से आवाज़ दी।

"डर लग रहा है।"

मैंने चूहे की-सी आवाज़ से कहा।

"सो जाओ। डर की क्या बात है?

"तुम्हारे पास आ जाऊं बेगम जान?"

"नहीं बेटी, सो रहो।" ज़रा सख़्ती से कहा।

और फिर दो आदमियों के खुसुर-फुसुर करने की आवाज़ सुनायी देने लगी। हाय रे! यह दूसरा कौन? मैं और भी डरी।

"बेगम जान, चोर-वोर तो नहीं?"

"सो जाओ बेटा, कैसा चोर?"

रब्बो की आवाज़ आयी। मैं जल्दी से लिहाफ़ में मुंह डालकर सो गयी। सुबह मेरे ज़ेहन में रात के ख़ौफ़नाक नज़ारे का ख़याल भी न रहा। मैं हमेशा की वहमी हूं रात को डरना, उठ-उठकर भागना और बड़बड़ाना तो बचपन में रोज़ ही होता था। सब तो कहते थे, मुझ पर भूतों का साया हो गया है। लिहाज़ा मुझे ख़याल भी न रहा। सुबह को लिहाफ़ बिल्कुल मासूम नज़र आ रहा था। मगर दूसरी रात मेरी आंख खुली तो रब्बो और बेगम जान

में कुछ झगड़ा बड़ी ख़ामोशी से पलंग पर ही तय हो रहा था। और मेरी समझ में न आया कि क्या फ़ैसला हुआ? रब्बो हिचकियां लेकर रोयी, फिर बिल्ली की तरह सपड़-सपड़ चाटने-जैसी आवाज़ें आने लगीं, ऊंह! मैं तो घबराकर सो गयी।

आज रब्बो अपने बेटे से मिलने गयी हुई थीं। वह बड़ा झगड़ालू था। बहुत कुछ बेगम जान ने किया-उसे दुकान करायी, गांव में लगाया, मगर वह किसी तरह मानता ही नहीं था। नवाब साहब के यहां कुछ दिन रहा, खूब जोड़े भी बने, पर न जाने क्यों ऐसा भागा कि रब्बो से मिलने भी न आता। लिहाज़ा रब्बो ही अपने किसी रिश्तेदार के यहां उससे मिलने गयी थी। बेगम जान न जाने देतीं, मगर रब्बो भी मजबूर हो गयी।

सारा दिन बेगम जान परेशान रहीं। उनका जोड़-जोड़ टूटता रहा। किसी का छूना भी उन्हें न भाता था। उन्होंने खाना भी न खाया ओर सारा दिन उदास पड़ी रहीं।

"मैं खुजा दूं बेगम जान?"

मैंने बड़े शौक से ताश के पत्ते बांटते हुए कहा। बेगम जान मुझे गौर से देखने लगीं।

"मैं खुजा दूं? सच कहती हूं!"

मैंने ताश रख दिये।

मैंने थोड़ी देर तक खुजाती रही और बेगम जान चुप लेटी रहीं।

दूसरे दिन रब्बो को आना था, मगर वह आज भी ग़ायब थी। बेगम जान का मिज़ाज चिड़चिड़ा होता गया। चाय पी-पीकर उन्होंने सिर में दर्द कर लिया।

मैं फिर खुजाने लगी उनकी पीठ-चिकनी मेज़ की तख्ती-जैसी पीठ। मैं हौले-हौले खुजाती रही। उनका काम करके कैसी खुशी होती थी!

"ज़रा ज़ोर से खुजाओ। बन्द खोल दो।" बेगम जान बोलीं, "इधर... ऐ है, ज़रा नीचे...हां...वाह भई वाह! हा! हा!" वह ठंडी-ठंडी सांसें लेने लगीं।

"और इधर...हालांकि बेगम जान का हाथ खूब जा सकता था, मगर वह मुझसे ही खुजवा रही थीं। "यहां...ओइ! तुम तो गुदगुदी करती हो...वाह!" वह हंसीं। मैं बाते भी कर रही थी खुजा भी रही थी।

"तुम्हें कल बाज़ार भेजूंगी। क्या लोगी? वही सोती-जागती गुड़िया?"

"नहीं बेगम जान, मैं तो गुड़िया नहीं लेती। क्या बच्चा हूं अब मैं?"

"बच्चा नहीं तो क्या बूढ़ी हो गयी?" वह हंसीं "गुड़िया नहीं तो बनवा लेना कपड़े, पहनाना खुद। मैं दूंगी तुम्हें बहुत से कपड़े। सुना?" उन्होंने करवट ली।

"अच्छा।" मैंने जवाब दिया।

"इधर..." उन्होंने मेरा हाथ पकड़कर जहां खुजली हो रही थी, रख दिया। जहां उन्हें खुजली मालूम होती, वहां मेरा हाथ रख देतीं। और मैं बेख़याल में, गुड़िया के ध्यान में डूबी मशीन की तरह खुजाती रही और वह बातें करती रहीं।

"सुनो तो...तुम्हारी फ्राकें कम हो गयी हैं। कल दर्ज़ी को दे दूंगी, कि नयी सी लाये। तुम्हारी अम्मा कपड़ा दे गयी हैं।"

"वह लाल कपड़े की नहीं बनवाऊंगी। चमारों-जैसा है!" मैं बकवास कर रही थी और हाथ न जाने कहां-से-कहां पहुंचा। बातों-बातों में मुझे मालूम भी न हुआ। बेगम जान तो चुप लेटी थीं। "अरे!" मैंने जल्दी से हाथ खींच लिया।

"ओई लड़की! देखकर नहीं खुजाती। मेरी पसलियां नोचे डालती है!" बेगम जान शरारत से मुस्करायीं और मैं झेंप गयी।

"इधर आकर मेरे पास लेट जा।"

"उन्होंने मुझे बाजू पर सिर रखकर लिटा लिया।"

"अय है, कितनी सूख रही है। पसलियां निकल रही हैं।" उन्होंने मेरी पसलियां गिनना शुरू की।

"ऊं!" मैं भुनभुनायी।

"ओइ! तो क्या मैं खा जाऊंगी? कैसा तंग स्वेटर बना है! गरम बनियान भी नहीं पहना तुमने!"

मैं कुलबुलाने लगी।

"कितनी पसलियां होती है?" उन्होंने बात बदली।

"एक तरफ नौ और दूसरी तरफ दस।"

मैंने स्कूल में याद की हुई किताब की मदद ली।

"हटाओ तो हाथ...हां, एक...दो...तीन..."

मेरा दिल चाहा किसी तरह भागूं...और उन्होंने ज़ोर से भींचा।

"ऊं!" मैं मचल गयी।

बेगम जान ज़ोर-ज़ोर से हंसने लगीं।

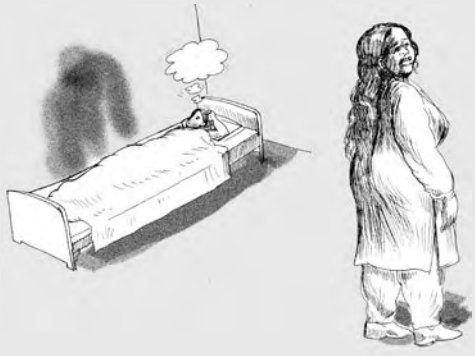

अब भी जब कभी मैं उनका उस वक़्त का चेहरा याद करती हूं तो दिल घबराने लगता है। उनकी आंखों के पपोटे और वज़नी हो गये। ऊपर के होंठ पर स्याही घिरी हुई थी। बावजूद सर्दी के, पसीने की नन्हीं-नन्हीं बूंदें होंठों और नाक पर चमक रही थीं। उनके हाथ ठण्डे थे, मगर नरम-नरम-जैसे उन पर की खाल उतर गयी हो। उन्होंने शाल उतार दी थी और महीन कुर्ते में उनका जिस्म आटे की लोई की तरह चमक रहा था। भारी जड़ाऊ सोने के बटन गले के एक तरफ झूल रहे थे। शाम हो गयी थी और कमरे में अंधेरा घुप हो रहा था। मुझे एक अनजाने डर से दहशत-सी होने लगी। बेगम जान की गहरी-गहरी आंखें! मैं रोने लगी दिल में। वह मुझे एक मिट्टी के खिलौने की तरह भींच रही थीं। उनके गरम-गरम जिस्म से मेरा दिल मिचलाने लगा। मगर उन पर तो जैसे कोई भूत सवार था और मेरे दिमाग का यह हाल कि न चीखा जाये और न रो सकूं।

थोड़ी देर के बाद वह पस्त होकर निढाल लेट गयीं। उनका चेहरा फीका हो गया और लम्बी-लम्बी सांसें लेने लगीं। मैं समझी कि अब मरी यह। और वहां से उठकर सरपट भागी बाहर।

शुक्र है कि रब्बो रात को आ गयी और मैं डरी हुई जल्दी से लिहाफ़ ओढ़ सो गयी। मगर नींद कहां? चुप घण्टों पड़ी रही।

अम्मा किसी तरह आ ही नहीं रही थीं। बेगम जान से मुझे ऐसा डर लगता था कि मैं सारा दिन नौकरों के पास बैठी रहती। मगर उनके कमरे में कदम रखते दम निकलता था। और कहती किससे, और कहती ही क्या, कि बेगम जान से डर लगता है? तो यह बेगम जान मेरे ऊपर जान छिड़कती थी...

आज रब्बो में और बेगम जान में फिर अनबन हो गयी। मेरी क़िस्मत की खराबी कहिए या कुछ और, मुझे उन दोनों की अनबन से डर लगा। क्योंकि फौरन ही बेगम जान को ख़याल आया कि मैं बाहर सर्दी में घूम रही हूं और मरूंगी निमोरिया में!

"लड़की क्या मेरा सिर मुंडवायेगी? जो कुछ हो गया और आफ़त आयेगी।"

उन्होंने मुझे पास बिठा लिया। वह खुद मुंह-हाथ में धो रही थीं। चाय तिपाई पर रखी थी।

"चाय तो बनाओ। एक प्याली मुझे भी देना।" वह तौलिया से मुंह पोंछ करके बोलीं, "मैं ज़रा कपड़े बदल लूं।"

वह कपड़े बदलती रहीं और मैं चाय पीती रही। बेगम जान नाइन से पीठ मलवाते वक़्त अगर मुझे काम से बुलातीं तो मैं गर्दन मोड़े-मोड़े जाती और वापस भाग आती। अब जो उन्होंने कपड़े बदले तो मेरा दिल उलटने लगा। मुंह मोड़े मैं चाय पीती रही।

"हाय अम्मा!" मेरे दिल ने बेकसी से पुकारा, "आख़िर ऐसा मैं भाइयों से क्या लड़ती हूं जो तुम मेरी मुसीबत..."

अम्मा को हमेशा से मेरा लड़कों के साथ खेलना नापसन्द है। कहो भला लड़के क्या शेर-चीते हैं जो निगल

जायेंगे उनकी लाडली को? और लड़के भी कौन, ख़ुद भाई और दो-चार सड़े-सड़ाये ज़रा-ज़रा से उनके दोस्त! मगर नहीं, वह तो औरत जात को सात तालों में रखने की कायल और यहां बेगम जान की वह दहशत, कि दुनिया-भर के गुण्डों से नहीं। बस चलता तो उस वक़्त सड़क पर भाग जाती, पर वहां न टिकती। मगर लाचार थी। मजबूर कलेजे पर पत्थर रखे बैठी रही।

कपड़े बदल, सोलह सिंगार हुए, और गरम-गरम ख़ुशबुओं के इत्र ने और भी उन्हें अंगारा बना दिया। और वह चलीं मुझ पर लाड़ उतारने।

"घर जाऊंगी।"

मैंने उनकी हर राय के जबाब में कहा और रोने लगी।

"मेरे पास तो आओ, मैं तुम्हें बाज़ार ले चलूंगी, सुनो तो।"

मगर मैं फैल गयी। सारे खिलौने, मिठाइयां एक तरफ़ और घर जाने की रट एक तरफ।

"वहां भैया मारेंगे चुड़ैल!" उन्होंने प्यार से मुझे थप्पड़ लगाया।

मारने दो, मैंने दिल में सोचा और रूठी, अकड़ी बैठी रही।

"कच्ची अमियां खट्टी होती हैं बेगम जान!"

जली-कटी रब्बो ने राय दी।

और फिर उसके बाद बेगम जान को दौरा पड़ गया। सोने का हार, जो वह थोड़ी देर पहले मुझे पहना रही थीं, टुकड़े-टुकड़े हो गया। महीन जाली का दुपट्टा तार-तार। और वह मांग, जो मैंने कभी बिगड़ी न देखी थी, झाड़-झंखाड़ हो गयी।

"ओह! ओह! ओह!" वह झटके ले-लेकर चिल्लाने लगीं। मैं बाहर भागी।

बड़ी मुश्किल से बेगम जान को होश आया। जब मैं सोने के लिए कमरे में दबे पैर जाकर झांकी तो रब्बो उनकी कमर से लगी जिस्म दबा रही थी।

"जूती उतार दो।" उसने उनकी पसलियां खुजाते हुए कहा और मैं चुहिया की तरह लिहाफ़ में दुबक गयी।

सर सर फट खच!

बेगम जान का लिहाफ़ अंधेरे में फिर हाथी की तरह झूम रहा था।

"अल्लाह मैंने मरी हुई आवाज़ निकाली। लिहाफ़ में हाथी फुदका और बैठ गया। मैं भी चुप हो गयी। हाथी ने फिर लोट मचाई। मेरा रोआं-रोआं कांपा। आज मैंने दिल में ठान लिया कि ज़रूर हिम्मत करके सिरहाने का लगा हुआ बल्ब जला दूं। हाथी फिर फड़फड़ा रहा था और जैसे उकड़ूं बैठने की कोशिश कर रहा था। चपड़-चपड़ कुछ खाने की आवाज़ें आ रही थीं-जैसे कोई मज़ेदार चटनी चख रहा हो। अब मैं समझी! यह बेगम जान ने आज कुछ नहीं खाया। और रब्बो मुई तो है सदा की चट्टू! ज़रूर यह तर माल उड़ा रही है। मैंने नथुने फुलाकर सूं-सूं हवा को सूंघा। मगर सिवाय इत्र, चन्दन और हिना की गरम-गरम ख़ूशबू के और कुछ न महसूस हुआ।

लिहाफ़ फिर हिलना शुरू हुआ। मैंने बहुत चाहा कि चुप पड़ी रहूं, मगर उस लिहाफ़ ने तो ऐसी अजीब-अजीब शक्लें बनानी शुरू की कि मैं लरज गयी। मालूम होता था, गों-गों करके कोई बड़ा सा मेंढक फूल रहा है और अब उछलकर मेरे ऊपर आया!

"आ...न अम्मां!" मैं हिम्मत करके गुनगुनायी, मगर वहां कुछ सुनवाई न हुई और लिहाफ़ मेरे दिमाग़ में घुसकर फूलना शुरू हुआ। मैंने डरते-डरते पलंग के दूसरी तरफ पैर उतारे और टटोलकर बिजली का बटन दबाया। हाथी ने लिहाफ़ के नीचे एक कलाबाज़ी लगायी और पिचक गया। कलाबाज़ी लगाने में लिहाफ़ का कोना फुट-भर उठा।

अल्लाह! मैं गड़ाप से अपने बिछौने में!!!

मुस्लिम महिलाएं व यौनिकता का सवाल

आवाज़-ए-निस्वां

मुस्लिम महिलाओं की यौनिकता को लेकर मुख्यधारा धारणा एक आकर्षक, आज्ञाकारी, पर्दानशीं महिला की छवि है जिसकी उर्वरता चरम सीमा पर है और जिसकी अपनी कोई मर्ज़ी नहीं है, वह पूरी तरह पुरुष पर निर्भर रहती है। पश्चिमी साम्राज्यवादियों ने इस रुढ़िबद्ध छवि को अपने फायदे के लिए इस्तेमाल किया है और मुस्लिम महिलाओं को हिज़ाब से आज़ादी दिलाने के नाम पर देशों पर बम गिराए हैं। ये पूर्वग्रह मुस्लिम महिला व उसके संघर्ष की बेहद संकुचित समझ की ओर इशारा करते हैं। दूसरी ओर मुस्लिम समुदाय के भीतर मौजूद दकियानूसी विचारधारा रखने वाले लोग इसी छवि को अपनी राजनैतिक महत्वकांक्षा पूरी करने व प्रगतिशील वैकल्पिक विचारों को पनपने से रोकने के लिए इस्तेमाल करते हैं और इस छवि को "एक नेक मुस्लिम महिला" की पदवी थमा देते हैं।

इसके बावजूद यौनिकता और मुस्लिम महिलाओं के मुद्दे एक दूसरे से अलग समझे जाते हैं। भारत में एक तरफ यौनिकता पर विमर्श में विषमलैंगिक पितृसत्तात्मक ढांचों से अलग रहने वाली मुस्लिम महिलाओं के संघर्षों को शामिल नहीं किया गया है। और दूसरी तरफ राष्ट्रीय मुस्लिम महिला आंदोलन ने अपना केंद्र वैवाहिक अधिकारों व सामाजिक-आर्थिक सशक्तता तक ही सीमित रखा है। यौनिकता के मुद्दों को उठाने वाली आवाज़ों को अलगाववादी करार देकर चुप रहने को मजबूर कर दिया जाता है।

गैर-विश्वासी मुस्लिम महिलाओं के सामने विडम्बना यह है कि उनके जीवन, संबंधों व सामाजिक-आर्थिक निर्णयों पर मज़हब का नियंत्रण है फिर चाहे उनकी व्यक्तिगत आस्था धर्म में हो या न हो। इसके साथ ही अनेक विश्वास करने वाली मुसलमान महिलाएं भी अपने ऊपर धर्म के नाम पर लगाई जाने वाली पाबंदियों के नियंत्रण से आज़ादी चाहती हैं और धर्म को एक निजी मसले के तौर पर देखती हैं। पर मुस्लिम अल्पसंख्यक और अधिसंख्यक दोनों ही देशों में महिलाओं का पारिवारिक जीवन कुरान व मुस्लिम व्यक्तिगत कानून के बेहद संकुचित और सीमित विश्लेषण द्वारा नियंत्रित किया जाता रहा है। ये कानून और रिवाज दोनों ही पुरुष प्रभुत्व की अभिव्यक्ति हैं। इनसे निजात पाने की इच्छा रखने वाली महिलाओं को अपने 'गैर इस्लामी' व 'अनैतिक' व्यवहार के लिए फतवों और सामाजिक बहिष्कार झेलना पड़ता है।

चित्र: जागोरी नोटबुक 2006 से

इन सभी नियंत्रणों के बावजूद महिलाओं ने पुरुष व विषमलैंगिक सुविधाओं और मानदण्डों को चुनौती देने का साहस दिखाया है। उन्होंने सत्ताधारियों द्वारा सामाजिक दर्जे को कायम रखने के प्रयासों के लिए राजनैतिक व मज़हबी नियंत्रण की मदद से अपनाए हथकंडों पर सवाल उठाए हैं। उन्होंने धर्म के अन्दर निहित असमानता को चुनौती दी है। हालांकि धर्म की आड़ में स्त्री यौनिकता को नियंत्रित रखने के लिए अपनाए गए प्रयास सभी मज़हबों में समान ही होते हैं फिर भी मुस्लिम महिलाओं की यौनिकता को दबाने के लिए अपनाए गए नियंत्रणों में कुछ फ़र्क़ भी नज़र आते हैं।

फ़र्क़ का सबसे पहला आयाम है *राज्य व मुस्लिम महिलाओं की यौनिकता।* हमारे जीवन के अन्य आयामों की तरह यौनिकता भी एक राजनैतिक मुद्दा है। राज्यों की जनसांख्यिकी, उनके आसपास के राजनैतिक ढांचे, सामाजिक, ऐतिहासिक व आर्थिक पक्ष राज्य संस्थानों

और सार्वजनिक तौर पर मुस्लिम महिलाओं की यौनिकता को प्रभावित करते हैं। इसी तरह धर्म निरपेक्ष राज्यों या धर्मतंत्रीय राज्यों या वहां जहां मुसलमान जनसंख्या बहुमत या अल्पसंख्यक है वहां इस यौनिकता को नियंत्रण करने वाले कारक अलग होते हैं। राष्ट्र विकास की विचारधारा, सामाजिक व आर्थिक हित यह तय करते हैं कि मुस्लिम महिलाओं के शरीर, स्वायत्तता और उनकी शक्ति पर लगाए नियंत्रणों का विस्तार, स्वभाव व सीमा क्या होगी। मुस्लिम महिला की यौनिकता उसकी राज्य के ढांचे में स्थिति द्वारा तय की जाती है।

दूसरा आयाम है *धार्मिक कट्टरता व मुस्लिम महिलाओं की यौनिकता।* सितम्बर ग्यारह के हादसे के बाद 'मुसलमान आतंकवाद' एक हौवा बनकर लोगों के दिलो-दिमाग पर छा गया है। धार्मिक व राजनैतिक उग्र-राष्ट्रीयता ने एक नई 'खतरे' से बचने की भाषा ईजाद कर दी है जिसमें नागरिक अधिकारों व स्वायत्तता पर अंकुश लगाना, राज्य के प्रति वफादारी का महत्व व अपनी आलोचनात्मक शक्तियों को काबू में रखने की ज़रूरत पर ज़ोर दिया गया है। इस माहौल का मुसलमान महिलाओं की यौनिकता पर क्या प्रभाव पड़ा है? अधिकांश मुस्लिम महिलाएं स्वयं को राजनैतिक व धार्मिक कट्टरवाद के चौरास्ते पर पा रही हैं जहां उनकी यौनिकता का नियंत्रण समुदाय की इज़्ज़त, पवित्रता और उपयुक्तता के लिए अहम समझा जा रहा है। *कारोकारी*, बाल विवाह व स्त्री जननांग विकृतिकरण यौनिकता नियंत्रण के तरीके हैं जिन्हें अधिक इस्तेमाल में लाया जा रहा है।

इसके अतिरिक्त मुस्लिम महिलाओं के शरीर पर भी कट्टरपंथी समूहों द्वारा हमला किया जाता है जिससे समुदाय की आत्मा पर चोट करके उसे नष्ट किया जा सके। इसके प्रतिकार के रूप में और अपनी पहचान के प्रतीकों पर हमलों को रोकने की कोशिश में अनेक महिलाएं अपने शरीर और यौनिकता से जुड़े प्रतीक जैसे चादर, बुर्के दोबारा अपना रही हैं। इस प्रकार कट्टरवाद की राजनीति स्थानीय व भौगोलिक स्तर पर मुस्लिम महिलाओं की यौनिकता पर अपना प्रभाव डालती है।

तीसरा आयाम है *जेंडर, यौनिक विविधता तथा इसमें मुस्लिम महिलाओं की भूमिका।* मौजूदा माहौल में जब राज्यों की स्वायत्तता बाज़ारी तत्वों द्वारा कुरेदी जा रही हो राष्ट्रीय व धार्मिक पहचानों की अहमियत बढ़ जाती है। ऐसे में अपने शरीर पर नियंत्रण पाने व अपनी यौनिक जागरूकता को पुरुष प्रभुत्व से आज़ाद करके इस्तेमाल करने के लिए किए गए संघर्षों को कम ही सफलता मिलती है। लिहाज़ा मुस्लिम महिलाओं ने खुद को, समुदाय व राष्ट्रीयता को मज़हबी सीमाओं के भीतर व बाहर से पुनर्भाषित करने का प्रयास किया है। इनमें से कुछ अगुवाइयां सफल रही हैं परन्तु यौनिकता के इर्द-गिर्द संघर्षों को अदृश्य और खामोश रखने के प्रयासों ने भी ज़ोर पकड़ा है। पर मुस्लिम महिलाओं ने अपने जेंडर व यौनिकता का इस्तेमाल पितृसत्तात्मक व विषम-नियामक ढांचों को चुनौती देकर उन्हें परिवर्तित करने की कोशिश जारी रखी है। ऐसा करने में उन्होंने अपनी लैंगिक, यौनिक, धार्मिक, राष्ट्रीय पहचानों के बीच जटिलताओं को भी सुलझाने के प्रयास किए हैं।

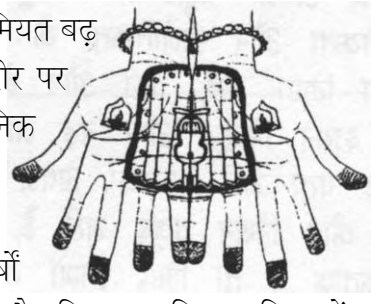

चित्र: जागोरी नोटबुक 2006 से

चौथा व अंतिम आयाम है *कुरान में मुसलमान महिला के शरीर व यौनिकता का निर्माण।* इसमें हमें यह समझना होगा कि कुरान की कौन सी व्याख्या ऐसी है जो औरतों को अपने शरीर, यौनिकता और प्रजनन काबलियत को नियंत्रित करने और उसे इस्तेमाल करने की उदारता दिखाती है। क्या कुरान की व्याख्या पुरुष प्रभुत्व व पितृसत्तात्मक निगरानी और शारीरिक नियंत्रण को चुनौती देने के लिए की जा सकती है? क्या कुरान को महिला सशक्तता का माध्यम मानकर मुसलमान समुदाय में पुरुष प्रभुत्व को चुनौती या बरकरार रखना संभव है? मुस्लिम महिलाओं की नज़र में कुरान-मज़हब की उनकी यौनिकता व शरीर को लेकर क्या भूमिका है? धर्म के नाम पर औरतों पर हिंसा करने वाले रिवाज कुरान में कैसे वैधता पाते हैं? इन सभी सवालों को उठाकर ही हम मुस्लिम महिलाओं के लिए ऐसा माहौल तैयार कर सकते हैं जिसमें वे कुरान को दोबारा समझने व उसकी स्वयं व्याख्या करने की जगह हासिल कर सकें। और उनकी इस कोशिश या आलोचना को उनके संघर्षों को अवैध करार देने के लिए न इस्तेमाल किया जाए बल्कि एक नए कल की रचना की पहल के रूप में प्रोत्साहित किया जाए।

स्त्री की जगह

अलका आर्य

हाल ही में अफगानिस्तान के राष्ट्रपति हामिद करजई ने वहां के शिया समुदाय की महिलाओं के लिए नया कानून बनाकर पश्चिमी देशों और स्त्री अधिकारों के लिए संघर्ष करने वाले संगठनों के बीच उबाल पैदा कर दिया है। *शिया पर्सनल स्टेट्स लॉ* नामक यह कानून महिलाओं को पति की अनुमति के बिना घर से बाहर जाने की इजाज़त नहीं देता और न वे अपने पति के यौन आग्रहों को ठुकरा सकती हैं। यानी विवाह में बलात्कार कानूनन जायज़ है। सवाल है कि हामिद करजई ने महिलाओं की बुनियादी आज़ादी का गला घोटने वाला यह कानून क्यों बनाया?

इसका जवाब अगस्त में होने वाले चुनाव हैं। इतना तय है कि कट्टरपंथी तबकों को खुश करने या राजनीतिक और चुनावी लाभ के लिए जो नया कानून बनाया गया है, वह अफगानिस्तानी समाज में लोकतंत्र और समानता लाने के बजाए उसे पीछे ही धकेलेगा। इस स्त्री विरोधी कानून की निंदा बीते हफ्ते *नाटो* की एक बैठक में भी सुनाई पड़ी। *नाटो* नेताओं का कहना था कि यह कानून तालिबानी अंदाज़ में महिलाओं पर प्रतिबंध लगाने जैसा है। अमेरिकी राष्ट्रपति बराक ओबामा की राय में यह घृणित कानून है तो जर्मनी की चांसलर अंजला मार्केल ने इस कानून को अस्वीकार्य बताया। अफगानिस्तान में महिला अधिकारों के लिए संघर्ष करने वालों की चिंता यह है कि हामिद करजई ने इस बिल पर हस्ताक्षर करके महिला अधिकारों के पक्ष में बन रहे माहौल पर हमला बोला है।

इस कानून का अनुच्छेद 133 अत्याधिक विवादास्पद है, जिसमें साफ कहा गया है कि महिलाएं पति की इजाज़त के बिना घर से बाहर नहीं जा सकती हैं और न ही उनके यौन आग्रह को ठुकरा सकती हैं। बिना पति की इजाज़त के वे घर से बाहर बहुत मुश्किल घड़ी में ही बाहर जा सकती हैं। अगर पत्नी शादी से पहले कामकाजी औरत है और वैवाहिक दस्तावेज़ों में उसकी नौकरी छोड़ने की किसी शर्त का कोई उल्लेख नहीं है तो पति उसे जबरन घर नहीं बिठा सकता। लेकिन साथ में यह शर्त रख दी गई है कि उसके कामकाजी होने से परिवार के हित प्रभावित नहीं होने चाहिए। पति अपनी पत्नी को किसी भी 'गैरज़रूरी' और 'गैरइस्लामी' काम करने से रोक सकता है।

अब सवाल यह है कि 'गैरज़रूरी' और 'गैरइस्लामी' की परिभाषा कौन तय करेगा? इस बात का फैसला कैसे होगा और कौन करेगा कि पत्नी के कामकाजी होने से क्या वास्तव में परिवार के हितों को नुकसान पहुंच रहा है?

अगर ऐसा है तो उसका खमियाज़ा अकेले पत्नी क्यों भुगते? इसी तरह औरत किन हालात में पति की इजाज़त के बिना घर से बाहर जा सकती है, यह तय करने का हक़ पति को ही क्यों दिया जाए? दरअसल, इस नए विवादास्पद कानून में महिलाओं के अधिकारों पर जो प्रतिबंध लगाए गए हैं, वे अफगानिस्तान के संविधान में महिलाओं को दिए गए अधिकारों से मेल नहीं खाते। वहां की एक महिला वकील के मुताबिक इस कानून के अधिकांश हिस्से संविधान सम्मत महिला बराबरी के हक़ को कम करके आंकने वाले हैं।

यों तो अमेरिकी राष्ट्रपति बराक ओबामा ने *नाटो* की साठवीं वर्षगांठ के मौके पर आयोजित बैठक में अफगानिस्तान में बने इस नए कानून को घृणित करार दिया। लेकिन सवाल है कि क्या हामिद करजई अमेरिका के इस दबाव के आगे झुकने को तैयार होंगे? करीब चार महीने बाद अफगानिस्तान में होने वाले चुनाव, कट्टरपंथियों का दबाव और तालिबान नेताओं की अफगानिस्तान के साथ-साथ पड़ोसी देश पाकिस्तान में भी मज़बूत होती पकड़ जैसे हालात को देखते हुए तो इस बात की संभावना काफी क्षीण ही लगती है।

पाकिस्तान की स्वात घाटी में तालिबान के लोगों ने जिस बेरहमी से सत्रह वर्षीय चांद बीबी पर सरेआम सैंतीस कोड़े बरसाए, उस चांद बीबी की चीख-पुकार आतंकवादी हमलों के पीड़ितों के दर्द से अलग हमारे ज़ेहन को झकझोर देने के लिए काफी है। बेशक इस दर्दनाक दृश्य को आम करने वाले वीडियो को फर्ज़ी बताया जा रहा है और चांद बीबी ने भी कोड़े बरसाने वाली कोई घटना होने से इनकार कर दिया है। लेकिन पाकिस्तान में तालिबान के खौफ़ का कितना असर है, यह वहां के सांस्कृतिक माहौल और महिलाओं की ज़िंदगी को थोड़ा नज़दीक से देखने पर ही पता लग सकता है।

पाकिस्तान के अखबार 'डॉन' की फीचर संपादक हुमा युसूफ ने अपने एक लेख में लिखा कि कराची में पारंपरिक सलवार-कमीज़ पहनने वाली अधिकतर महिलाओं को हाल में खुद को ऊपर से नीचे तक ढके बिना घर से बाहर नहीं निकलने की सख्त हिदायत दी गई है। हिदायत देने वाले कुछेक लोगों के पास हथियार भी थे। कराची के ही एक अंग्रेज़ी माध्यम वाले निजी स्कूल में खेल दिवस के मौके पर खेल में भाग लेने वाली युवा लड़कियों ने सिर को स्कार्फ से ढक रखा था। हुमा युसूफ कहती हैं कि इन हालात में पाकिस्तानी महिलाएं अब खुद से यह सवाल पूछ रही हैं कि हम सैंतीस कोड़ों से कितने कदम दूर हैं।

कविता

तूफ़ां

जमीला निशात

लम्हों को पलकों पे संभाले
गोद में नन्हीं गुडिया लेकर
पीर मुरषद के दर पर जाऊं
सत्रह साला दिल ने ठाना

मां और नानी साथ ही निकले
ये ना जाना
वक्त ज़ालिम था
बरछे लेकर ऑठो से उतरा

जुल्म का तूफां
चौखट पर खड़ा था
तलवार की नोक पर
जीवन धारा

लाल धारा
कमरे से निकली
वजूद के टुकड़े
कमरे में बिखरे

प्याज़, आलू, लाल टमाटर
उसी बरतन में
मां का सर
नानी की रूह
चौखट पर दम तोड़ रही थी

गोद में नन्हीं गुडिया रोयी
वह दौड़ी
पलकों से तूफां उमड़ पड़ा

सींखचों में कैद लेखनी

अमीना हुसैन

एक कथा साहित्य लेखिका का सबसे बड़ा खौफ़ होता है विषय का अभाव या फिर भावों की अभिव्यक्ति में शून्यता। आम तौर पर लेखिका की भाव शून्यता की कल्पना करने पर आंखों के सामने कलम हाथ में लिए बैठी स्त्री की छवि कौंधती है जो अपने अंतरमन में बैठे विचारों को कहानी के रूप में उकेर पाने में कामयाब न हो पा रही हो या फिर जिसे कथा कहने के लिए प्रेरणा ही न मिल रही हो। पर आज मैं एक अन्य तरह की लेखन भावशून्यता की बात कर रही हूं। ये ऐसी बाधा है जो बाहरी दुनिया द्वारा पैदा की जाती है। यह इतनी कठोर है कि लेखिका को रुककर सोचने पर बाध्य कर देती है कि वह क्या लिख रही है और क्यों?

मैं कोई बहुत पुरानी लेखिका नहीं हूं। 1999 में पहला कहानी संग्रह *फ़िफ़टीन* छपा था और उसके बाद ही मैंने अपना देश श्रीलंका छोड़ दिया था। मुझे खुशी है कि मैंने अपना देश छोड़ दिया था; मूल नारीवादी आधार पर लिखी कहानियों को पढ़ते समय मैं नहीं चाहती थी कि मैं आम लोगों के सामने खड़ी रहूं। हालांकि मेरी कहानियों में अनेक परिस्थितियां और समुदायों का ज़िक्र था पर अधिकांश मुस्लिम समुदाय में बसी थीं और नारीवादी नज़रिए का प्रमाण थी। मेरी सबसे यादगार समीक्षा में मुझे पुरुषों से नफ़रत करने वाली कहा गया था। और ऐसा कहने वाला पुरुष भी मुस्लिम समुदाय का ही था। खैर मैं बड़े सस्ते में छूट गई थी।

मेरा दूसरा कहानी संग्रह एक नई दिशा की ओर मुखातिब था। यद्यपि मेरी ज़्यादातर कहानियां श्रीलंका से बाहर रहकर लिखी गई थी फिर भी देश के जातीय संघर्ष का उनमें खासा महत्व था। इसकी एक कहानी का नाम था *मुस्लिम ऑन द पेरिफेरी* यानी परिधि से बाहर मुस्लिम। संग्रह में इस कहानी को बेहद प्रखरता से बम धमाके में मारे गए फल वाले और सूखा पीड़ित क्षेत्र की एक कहानी के बीच में स्थान दिया गया था। इस कहानी पर कुछ एक-आध मुस्लिम पाठकों की निजी टिप्पणियां सुनने को मिली जो इस कथा के साथ एक सामंजस्य बैठा पाए थे। पर अधिकांश समुदाय ने इसे महत्वहीन समझ कर नज़रअंदाज़ करना उचित समझा। दिल ही दिल में मैं इस प्रतिक्रिया से खुश थी।

इस साल प्रकाशित मेरा पहले उपन्यास को बेहिचक श्रीलंका की मुसलमान लेखिका के प्रथम उपन्यास के खिताब से नवाज़ा गया है। पहचान, धर्म, नस्ल तथा अन्य सामाजिक कारकों को उजागर करने वाली मध्यमवर्गीय परिवार की यह कहानी लगभग सभी समुदायों के पाठकों को पसंद आई है। मुस्लिम व गैर मुस्लिम समुदाय के लोग अलग-अलग कारणों से इस कहानी को पसंद कर रहे हैं।

"श्रीलंका की मुसलमान लेखिका" यह मेरी जातीय पहचान है जो न चाहते हुए भी मेरे नाम से जुड़ गई है।

अगर मेरा बस चलता तो मैं सिर्फ़ एक लेखिका कहलाना पसंद करती। पर दुनिया में 'लेबल' का खास महत्व है और आज के दौर का खास लेबल 'मुस्लिम' है। और फिर मेरा नाम, मेरा समुदाय और मेरी कहानियों का विषय सभी तो मेरी 'श्रीलंका की मुसलमान लेखिका' होने की सच्चाई को रेखांकित करते हैं।

श्रीलंका में लगभग आठ प्रतिशत लोग मुसलमान हैं। हमारा समुदाय अमीर नहीं है जबकि अधिकांश लोग समझते हैं कि हम लोग शातिर व्यवसायी है जो समद्ध तो हैं पर पैसा पानी की तरह खर्च करते हैं। पर सच तो यह है कि अधिकांश गरीब, खेतीहर, निम्न मध्यवर्गीय व्यापारी हैं और एक छोटा हिस्सा शिक्षित व्यवसायी वर्ग का है। इस समुदाय में मेरी कहानियां पढ़ने वाला पाठक वर्ग बहुत छोटा सा है। मैं अंग्रेज़ी में लिखती हूं और मेरा समुदाय तमिल-भाषी है। कुछ लोग सिंघला या अंग्रेज़ी बोलते हैं। इससे भी कम लोग अंग्रेज़ी पढ़ते हैं और कहानी पढ़ने वाले और भी कम हैं।

पर फिर भी जब मैं मुस्लिम समुदाय से जुड़े मुद्दे अपनी कहानियों में उठाती हूं तो एक बोझ मुझे चारों ओर से घेरे रहता है। लिखते समय मैं कुछ खास खण्डों को बार-बार पढ़ती हूं, उनमें फेर-बदल करती हूं जब तक मुझे यकीन नहीं होता कि उन जुमलों को अन्यथा नहीं लिया जाएगा या कोई उनसे नाराज़ नहीं होगा। मैं अपनी लेखनी पर फतवा जारी किए जाने या मृत्यु करार दिए जाने से बहुत डरती हूं।

इस व्यवहार ने मुझे सोचने पर मजबूर कर दिया है। हम मुस्लिम समुदाय के लोग अपने लेखन को उसी प्रकार ग्रहण क्यों नहीं करते जैसे ईसाई लोग *द डा विंची कोड* या *द लास्ट टेम्पटेशन ऑफ़ क्राईस्ट* को देखते हैं?

हां, उस समुदाय ने अपना विरोध जताया था, प्रतिरोध भी किया था पर इन रचनाओं का उन्हें यथोचित महत्व भी दिया गया था। दूसरे धर्मों में भी किस्से इससे अलग नहीं रहे है। अंग्रेज़ी बी-ग्रेड फ़िल्म *म्यूज़िक एण्ड लिरिक्स* में एक अर्द्ध-नग्न स्त्री गौतम बुद्ध की प्रतिमा के सामने रक्स करती है। इस दृश्य पर बौद्ध समुदाय ने अपना विरोध जताया पर फ़िल्म का प्रदर्शन बंद नहीं हुआ। मैल गिबसन की फ़िल्म *द पैशन* की यहूदियों ने मुखालफ़त की पर फ़िल्म करोड़ों लोगों ने देखी थी।

यहां मेरा स्वतंत्रता के लिए झंडा उठाकर पैरवी या किसी को ठेस पहुंचाने का मकसद नहीं है। मैं केवल अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की बात पर ज़ोर देना चाहती हूं। जिस तरह स्वतंत्रता के साथ ज़िम्मेदारी आती है उसी प्रकार किसी अन्य नज़रिए को पेश करने की स्वतंत्रता का हक़ भी अहमियत रखता है। मुस्लिम समाज में मुझे इस अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की कमी महसूस होती है। और इसी कमी का खामियाज़ा हम भुगत रहे हैं।

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अभाव में हमारे पास क्या बचा रह पाएगा? न तो हमारे पास नए विचार होंगे जो हमारे ज़ेहन को झकझोरेगें, न ही किन्ही गैर आरामदायक बातों पर हम बहस करेंगे और न ही हमारे पास कल्पना के पंख होगे। इसका यह भी अर्थ हुआ कि कोई रश्दी या जलालुद्दीन रूमी हमारे बीच नहीं पाए जाएंगे। इसका यह भी अभिप्राय हुआ कि हमें खुद से यह मुश्किल सवाल पूछना होगा कि ज्ञान, विमर्श, शिक्षा, साहित्य इत्यादि के लिए मशहूर मुस्लिम समाज आज केवल आतंकवाद के लिए ही प्रसिद्ध क्यों है? आखिर ऐसा क्या हो गया है?

अगर हमारे समाज का यह प्रतिगमन इसी प्रकार बढ़ने दिया गया तो एक मुट्ठी भर बीमार मानसिकता वाले मुसलमान लोग हमारी संस्कृति, हमारे धर्म और हमारे समुदाय को गुमनामी के अंधे कुएं में ढकेलते रहेंगे। और इस त्रासदी के लिए हम स्वयं ज़िम्मेदार होगें क्योंकि हम ऐसा होने दे रहे हैं। अगर लेखक और चिन्तक मुस्लिम समाज को नए विचारों, प्रवर्तित सोच और अग्रणी सिद्धान्तों से चुनौती देने से डरते रहेंगे तो यह बेहद अफ़सोसजनक हालात हैं। अगर हम इस बात को नहीं समझते कि कहीं कुछ बहुत गलत हो चुका है जिसे हमें सुधारना है और यह कि इस्लाम के अनुसार समाज का सही स्वरूप इतना संकुचित नहीं है तो हम बड़ी मुश्किल में हैं। और तब लेखक और लेखिकाओं की यह भावशून्यता हमारे समाज की जड़ों को खोखला करती रहेगी।

बदलाव की लहर

पामेला फ़िलीपोज़

पठान शमीम टैक्सी चलाती हैं, सत्रह घंटे लगातार गाड़ी चलाना उनके लिए आम बात है। वह तीस वर्षीय तलाकशुदा महिला है जो अपनी व अपने बेटे की परवरिश के लिए अहमदाबाद और मुंबई के बीच टैक्सी चलाती है। शमीम उन मुसलमान महिलाओं में से एक है जिसने गुजरात नरसंहार के बाद राष्ट्रीय महिला आयोग द्वारा आयोजित जनसुनवाई में अपना पक्ष पेश किया था। शमीम अपने बालों की एक चोटी गूंथती है और बुर्का नहीं पहनतीं। उसका कहना है "पर्दा बुर्का पहनने से ही नहीं किया जाता। शर्म आंखों का लिहाज़ है यह कपड़ों से नहीं होती।"

हालांकि क्रांति और बदलाव एक शमीम के व्यवहार से नहीं आता पर इसमें कोई संदेह नहीं है कि बदलाव की लहर अब चल चुकी है। शमीम की तरह ही और बहुत सी मुस्लिम महिलाओं ने बुलंद हौसलों के साथ राख से दोबारा ज़िंदगी शुरू करने का जीवट दिखाया है। इंदौर की सादिया को ही लें जिसने पति के हिंसक व्यवहार से निजात पाने के लिए न सिर्फ़ अपनी शादी तोड़ दी बल्कि दहेज में दी गई पाई-पाई का हिसाब करके सभी सामान वापस ले लिया। उसने हताशा और दुख के बदले सम्मान और साहस दिखाया।

आज वो सभी सवाल जिन्हें पहले कभी भी उठाया नहीं गया मुस्लिम समाज में मुखरित किये जा रहे हैं। एक जनसुनवाई के दौरान युवा महिला छात्राओं ने जानना चाहा कि केवल औरतों को ही पर्दा क्यों करना पड़ता है? चौदह-पंद्रह वर्ष की बच्ची का निकाह करने की इजाज़त समाज कैसे देता है? लड़कों को अवसर दिए जाते हैं पर लड़कियों को चारदीवारियों में क्यों ढकेल दिया जाता है? बुर्का पहनकर सेना में दाखिला पाया जा सकता है क्या? लड़कियों पर दहेज हिंसा क्यों होती है? पति के छोड़ने पर कलंक का भार लड़कियां क्यों ढोती फिरती है? सवाल अनगिनत थे। पर एक सवाल जिसने बदलाव की नई लहर की गंभीरता को उजागर कर दिया वह कलकत्ता से आई एक लड़की ने उठाया था- कुरान में दर्ज कुछ ऐसी प्रथाओं जैसे चोरों के हाथ काट देना पर अमानवीय और मानवाधिकार हनन के आधार पर प्रतिबंध लगा दिया गया है। इसी तरह महिलाओं के लिए दर्ज दकियानूसी और महिला अधिकार विरोधी प्रथाओं पर प्रतिबंध क्यों नहीं लगाया जा सकता?

दिल्ली में मुस्लिम महिलाओं पर शोध अध्ययन से जुड़ी दो नारीवादी अकादमिक ज़ोया हसन व ऋतु मेनन के विचार में मुस्लिम महिलाओं के सामने विकट समस्या है शिक्षा और रोज़गार का अभाव जो उन्हें आगे बढ़ने से रोकती है।

यद्यपि शिक्षा को लेकर जागरूकता में भी बढ़त पाई गई है। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र और सामाजिक कार्य विभाग के प्राध्यापक अब्दुल वहीद बताते हैं- "मैंने बरेली ज़िले के बहेरी कस्बे के मुसलमान बंजारों पर एक शोध किया था। मैंने पाया कि हर संस्थान और शिक्षा विभाग में मुस्लिम लड़कियां मौजूद थीं। वे स्कूल, कालेज जाएं, चाहे घर पर रहकर पढ़ें पर शिक्षा की अहमियत उनके लिए बहुत है। बीस साल पहले ऐसा नहीं था।"

बदलाव की इस लहर की गिरफ्त में सामुदायिक नेता भी आ चुके हैं। चेन्नई में कार्यरत एक वकील तथा *तमिलनाडु अल्पसंख्यक आयोग*

की पूर्व अध्यक्ष बदर सईद कहती हैं कि बहुविवाह प्रथा का खात्मा होना चाहिए। उनके विचार में जितने मौलवी हैं उतने ही फतवे वे जारी करते रहते हैं इसलिए कानूनों का सूत्रबद्ध किया जाना बेहद महत्वपूर्ण हो गया है। मुंबई के एक महिला समूह ने एक नया निकाहनामा भी तैयार किया है जिसमें एक महिला को अपने पति को तलाक देने का अधिकार दिया गया है अगर वह निकाहनामे में उल्लेख की गई सभी शर्तों को पूरा नहीं करता।

इसी तरह दो साल पूर्व *इस्लामी अध्ययन संस्थान तथा समाज व धर्म निरपेक्षता अध्ययन सेंटर* द्वारा आयोजित जनसुनवाई में इस बात पर सहमति व्यक्त की गई थी कि मुस्लिम समुदाय को *मुस्लिम पर्सनल लॉ* के प्रावधानों को सर्वोपरि और हद से ज़्यादा अहम मानने वाले रवैये में परिवर्तन लाना होगा। इस बैठक के अंत में पारित प्रस्ताव के अनुसार यह तय किया गया था कि *मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड* के साथ विमर्श की प्रक्रिया शुरू की जाएगी। ये कानून अंग्रेज़ों द्वारा बनाए गये थे और इन्हें पूरी तरह शरीयत आधारित नहीं कहा जा सकता। यह भी उल्लेख किया गया कि इस कानून में कई प्रगतिशील बदलाव के उदाहरण मौजूद हैं। मसलन मौलाना अशरफ थानवी ने 1939 में *निकाह रद्द कानून* पारित किया था जिसके माध्यम से उन मुस्लिम महिलाओं को राहत दी गई थी जिनके पति लापता या गायब थे। प्रस्ताव के अनुसार इस प्रकार की अगुवाई करने की आज भी ज़रूरत है।

विडम्बना यह है कि एक ओर भारत में मुस्लिम *महिला कानून 1986* के तहत तमाम मुस्लिम महिलाओं को उनके हक़ों से महरूम किया जा रहा है और उन्हें तलाक के पश्चात गुज़ारा भत्ता पाने का अधिकार नहीं दिया जा रहा है। वहीं दूसरी ओर पाकिस्तान व बंगलादेश जैसे इस्लामी देशों में *मुस्लिम पर्सनल लॉ* में महत्वपूर्ण सुधार किये जा रहे हैं। इंडोनेशिया में बहुविवाह पर प्रतिबंध तथा तुर्की व टयूनिसिया में निकाह व तलाक पर नियंत्रण करने वाले कानून बनाये गये हैं।

पाकिस्तान में *पारिवारिक कानून अधिनियम 1961* के तहत बहुविवाह पुरुषों का एकाधिकार नहीं रहा है। दूसरी शादी करने के लिए पहली पत्नी की लिखित रज़ामंदी अनिवार्य है। सभी निकाह पंजीकृत होने चाहिए जिससे तीन बार तलाक कहकर उन्हें रद्द करना संभव न हो तथा हर तलाकशुदा महिला को गुज़ारा भत्ता पाने का अधिकार है।

पाकिस्तान में *पर्सनल लॉ* में सुधार की प्रक्रिया एक अनोखे किस्से से हुई थी। 1955 में पाकिस्तान के वज़ीरे-आज़म, मुहम्मद अली अपनी एक पत्नी के रहते-रहते एक दूसरी महिला से निकाह करना चाहते थे। इसी बात पर शुरू हुआ औरतों का विरोधी आंदोलन जिसने विवाह कानूनों में संशोधन की प्रक्रिया की शुरूआत की। पाकिस्तानी महिलाओं ने मांग रखी कि इस्लाम के अनुसार "सभी पत्नियों के साथ समान देखभाल व व्यवहार किया जाना चाहिए।" ये शर्त पूरी करना असंभव है लिहाज़ा कानूनी संशोधन किया जाना ज़रूरी हैं। महिला सामाजिक कार्यकर्त्ताओं के विचार में इस्लाम बहुविवाह की इज़ाजत इसलिए देता है ताकि इंसान व्यभिचार और अनैतिक संबंधों से बचे। पर पुरुष इस कानून को अपनी सहूलियत अनुसार इस्तेमाल करके हरम बनाने की कोशिश करते हैं। अगर वे इस्लामी कानून की पाबंदियों का पालन करें तो दूसरी शादी करना असंभव हो जाता है।

पर भारत में *मुस्लिम पर्सनल लॉ* में सुधार लाना एक जटिल प्रक्रिया है। *जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय* के प्राध्यापक इम्तयाज़ अहमद का मत है कि बदलाव का अर्थ है नवीन और दकियानूसी विचारों के बीच संघर्ष। "हमारे समाज में बढ़ती धार्मिक कट्टरता को देखते हुए प्रगतिशील विचारों की विजय मुश्किल लगती है। परन्तु अभी भी उम्मीद बाकी है। जिस प्रकार समुदाय की महिलाएं अपने हक़ों को लेकर जागृत हो रही हैं, परिवर्तन दूर नहीं है। *महिलाएं मुस्लिम लॉ बोर्ड* में तैंतीस प्रतिशत आरक्षण की भी मांग कर रही हैं। विवाह अनुबंध, गुज़ारा भत्ता आदि मुद्दे भी सर्वोपरि हैं। अगर बहस और बातचीत जारी रहेगी तो बदलाव की लहर आंधी भी बनेगी। इसलिए इस विचार-विमर्श को नियमित रूप से जारी रखना होगा।

इंडियन एक्सप्रेस में पूर्व प्रकाशित

इस्लामी करुण गीत 'जाड़ी गान'

अजीता मेनन

सभी पारम्परिक धर्मों ने महिलाओं पर अनेक पाबंदियां लगाई हैं। पर पश्चिमी बंगाल के मुर्शीदाबाद ज़िले की ग्रामीण महिलाओं ने इन वर्जनाओं से खुद को आज़ाद करके प्रचलित धार्मिक परम्परा को अपने जीवकोपार्जन तथा सामाजिक जागृति का सहारा बना लिया है। इस प्रक्रिया में उन्होंने एक पारम्परिक शैली *जाड़ी गान* को भी जीवनदान दिया है। इस कला शैली में इस्लामी करुणगीतों के माध्यम से धार्मिक त्रासदियों और शहीदी गाथाओं का वर्णन किया जाता है।

रसीना बीबी, उम्र 48 वर्ष ने अपने गांव, जीबॉन्ती में अट्ठारह साल पहले ये करुणगीत गाने शुरू किये थे। एक पारम्परिक मर्दाने परिवेश में उनका ये कदम और गांव-गांव गाते हुए पैसे इकट्ठे करने की कोशिश में उन्हें काफी विरोध झेलना पड़ा। पर रसीना बीबी बताती हैं, "मेरे पास कोई हुनर, शिक्षा या रोज़गार नहीं था। पर मैं गा सकती थी और ये गाथाएं मुझे जुबानी याद थीं। बचपन से मजलिसों में मैं इन्हें सुनती आई हूं। सोचा इसे अपना पेशा बनाने की इजाज़त सिर्फ़ मर्दों को ही क्यों हो? मैंने पहले-पहले अकेले गाना शुरू किया। दूसरी औरतें डरती थीं क्योंकि पुरुष गाने वाले मेरा खूब विरोध करते थे। पर मैंने हार नहीं मानी। इतिहास मेरे साथ था। हज़रत मुहम्मद की बेटी फतिमा अज़-ज़ाहरा ने *जाड़ी गान* परम्परा की नींव डाली थी। इसके ज़रिए वे हिम्मत व वीरता के किस्से सुनाती थीं। इमाम हुसैन की शहादत के पश्चात उसकी बहन ज़ैनब ने यह परम्परा कायम रखी। उसने इन गीतों के ज़रिए फरेब, आतंक, कत्ल और धोखे के किस्से बयान किए। चूंकि ये शैली औरतों ने रची थी इसलिए हमें इनको गाने में कोई धार्मिक रोक-टोक या इस्लामी कानून का सामना नहीं करना पड़ा।"

हालांकि बंगाल में *जाड़ी गान* बहुत प्रचलित है व घरों में मजलिसों का आयोजन अक्सर किया जाता है परन्तु मातम या इमाम हुसैन के लिए शोक जताने का रिवाज यहां नहीं है क्योंकि गाने वाले सुन्नी मुसलमान हैं। औरतों की मजलिसों में ज़रूर माहौल गमगीन होता है और गीतों में साज़ का इस्तेमाल नहीं किया जाता।

वर्षों की जद्दोजेहद के बाद रसीना बी एक दस महिलाओं की टोली बनाने में कामयाब हुई हैं। उनसे प्रेरित होकर आसपास कई महिला टोलियां बनी हैं जिसमें शिक्षित मध्यम वर्ग की महिलाएं भी शामिल हैं। लालबाग, कांडी, हातपाडा, जियागंज क्षेत्रों से महिला टोलियां राज्य के बाहर जाकर भी *जाड़ी गान* पेश करती हैं व पैसे कमाती हैं।

ताज्जुब की बात यह है कि सरकार में भी इन महिलाओं को मान्यता मिल गई है। इन गीत टोलियों के ज़रिए सरकार मुसलमान समुदायों में मातृत्व व शिशु स्वास्थ्य, पोलियो अभियान, प्राथमिक शिक्षा, एड्स चेतना फैलाने में कामयाब रही है। जीबॉन्ती ग्राम के *जाड़ी गान* समूह की गायिका ऐशवारा बेगम बताती हैं — "गांववाले हमारा गीत सुनने आते हैं इसलिए जब हम शिक्षा या स्वास्थ्य की बात करते हैं तो उनका अविश्वास मज़बूत इरादे में तब्दील हो जाता है।"

हालांकि इस पुरुष गायन शैली में कदम रखने के पीछे औरतों का मकसद पैसा कमाना था परन्तु इस धंधे में नियमित कमाई नहीं है। "जो पैसे हम कमाते हैं या जो सरकारी अभियान से जुड़ने पर हमें मिलते हैं उनसे परिवार चलाना संभव नहीं है। पर पति व अन्य घरवालों की कमाई से जुड़कर यह रकम उपयुक्त हो जाती है। अब हमारे बच्चों को कपड़े और शिक्षा मिल पाती है। बुर्का छोड़कर घर से बाहर निकलना फायदेमंद साबित हुआ है। पर अभी भी हम मजलिस के दौरान अपना सर ढककर रहते हैं। ये हमारा सम्मान देने का तरीका है।"

जब महिलाएं राज्य द्वारा आयोजित सांस्कृतिक कार्यक्रमों या महफिलों में *जाड़ी गान* प्रस्तुत करती हैं तब दर्शकों में सभी धर्मों के लोग शामिल होते हैं। पर कार्यक्रम का स्वरूप एक धार्मिक गोष्ठी का ही होता है जैसा कि *जाड़ी गान* की रवायत है।

जहां इस पारम्परिक शैली ने गरीब महिलाओं के स्वाभिमान की रक्षा की है वहीं शिक्षित मुसलमान लड़कियां, जो इस शैली से जुड़ रही हैं, ने सामाजिक कल्याण में भी सहयोग किया है। "हमें पैसे नहीं चाहिए पर हम मानते हैं कि *जाड़ी गान* हमारी विरासत का हिस्सा है और इसलिए इसे बरकरार रखना महत्वपूर्ण है। इसके ज़रिए हम लोगों को एक बड़ी मज़लिस में आने के लिए प्रोत्साहित कर सकते हैं, जहां वे कुछ दूसरे मुद्दों पर भी बातचीत कर सकें।"

लालबाग समूह की सईदा सबा अथुर जो 27 वर्ष की हैं का मानना है। एक अन्य गायिका सईदा जुल्मीमुन निसा बताती है, "हमारी टोली गाने का पैसा नहीं लेती। हम दस-बारह गायिकाएं हैं और सभी शिक्षित उच्च वर्ग परिवार से आती हैं। हम ये गीत इसलिए गाते हैं क्योंकि इससे आत्मा पवित्र होती है। इनका प्रभाव दिलो-दिमाग पर होता है। हम इन गीतों में सामाजिक कल्याण की भी बात करते हैं।"

इन करुण गीतों से जुड़ने वाली महिलाएं अपने घरों में रियाज़ करती हैं। अधिकांश गीत बंगला में गाये जाते हैं। पर अरबी, उर्दू और फारसी में भी कुछ शोक गीत है जो मानवता के लिए हुसैन के बलिदान की गाथा सुनाते हैं। दुख *जाड़ी गान* की रूह है। ये गीत श्रोताओं के दिल तक पहुंचकर आंसू के रूप में बहते हैं। इससे सुकून और हौसला मिलता है।

जाड़ी गान ने न सिर्फ़ औरतों को सशक्त और आत्मनिर्भर बनाया है बल्कि धर्म और सामाजिक कल्याण के बीच फासला कम किया है। आज बुजुर्ग मौलाना और आम लोगों को इस पर आस्था है। जीबॉन्ती गांव के एक बुजुर्ग मौलाना कहते हैं, "औरतों की इस पहल ने जवानों के दिल में इस्लाम को समझने की ख्वाहिश जगाई है। यह एक अच्छी शुरूआत है जिसका श्रेय औरतों को दिया जाना चाहिए।"

कविता

समझौते की चादर

ज़ेहरा निगाह

मुलायम गर्म समझौते की चादर
ये चादर मैंने बरसों में बुनी है
कहीं भी सच के गुल बूटे नहीं है
किसी भी झूठ का टांका नहीं है।
इसी से मैं भी तन ढक लूंगी अपना
इसी से तुम भी आसूदा रहोगे
न खुश होगे, न पशमर्दा होगे

ज़ुबैदा (2001)

निर्माता/निर्देशक : **श्याम बेनेगल**

भाषा : **हिन्दी**

संगीत : **ए. आर. रहमान**

अवधि : **2 घंटे 30 मिनट**

श्याम बेनेगल निर्देशित फ़िल्म *ज़ुबैदा* एक युवा बेटे रियाज़ (रजित कपूर) द्वारा अपनी मां, ज़ुबैदा (करिश्मा कपूर) के जीवन को जानने की दास्तान बयान करती है।

फ़िल्म की कहानी 1950 के दौर की है। ज़ुबैदा फ़िल्म निर्माता सुलेमान सेठ की इकलौती बेटी है। अपने पिता को बताए बगैर ज़ुबैदा अपने पिता की दोस्त व फ़िल्म एक्ट्रेस रोज़ (लिलेट दुबे) की मदद से 'बंजारन' नाम की फ़िल्म में एक नृत्य-अभिनय करती है। सुलेमान सेठ को जब इस बात का पता चलता है तो वह ऐतराज़ करते हैं और ज़बर्दस्ती उसका निकाह अपने दोस्त के बेटे, महबूब आलम के साथ करवा देते हैं।

ज़ुबैदा इस निकाह से खुश नहीं है, वह एक आज़ाद और जीवंत ज़िन्दगी बसर करना चाहती है। शादी और उससे जुड़ी पाबंदियां उसे रास नहीं आतीं। ज़ुबैदा की महत्वकांक्षा उसे एक अच्छी बीवी बनने से रोकती है पर फिर भी वह पति के साथ एक सजी-संवरी गुड़िया-नुमा ज़िन्दगी को सार्थक बनाने की कोशिश करती है। वक्त गुज़रता है। किसी आपसी पारिवारिक मनमुटाव के कारण ज़ुबैदा का पति उसे मजबूरन तलाक दे देता है और ज़ुबैदा अपने बेटे रियाज़ को लेकर मायके लौट आती है।

तलाकशुदा ज़ुबैदा की मुलाकात महाराजा विजेंद्र सिंह (मनोज बाजपेई) से एक पोलो मैच के दौरान होती है। महाराजा ज़ुबैदा की खूबसूरती के कायल हो जाते हैं और उससे शादी करने की पेशकश करते हैं। एक सुनहरे, आज़ादी भरे जीवन की कल्पना में खोई ज़ुबैदा अपने बेटे को अपनी मां (सुरेखा सीकरी-रेगे) की सुपुर्दगी में छोड़कर महाराजा के साथ फतेहपुर चली जाती है। फतेहपुर में महाराजा की पहली पत्नी, महारानी मंदाकिनी (रेखा) उसे शाही तौर-तरीके और सलीका सिखाने का प्रयास करती है जो ज़ुबैदा को नागवार गुज़रता है।

ज़ुबैदा की दुनिया में केवल मुहब्बत, आज़ादी व शान-औ-शौकत की ख्वाहिश है। वह जलन और ईर्ष्या के चलते अपना पत्नी-हक़ राजा की पहली पत्नी के साथ नहीं बांटना चाहती। वह चाहती है कि महाराजा के जीवन का केंद्र वही रहे परन्तु ऐसा नहीं होता। अपनी रियासत की राजनैतिक बागडोर संभालने और उससे जुड़ी सत्ता कायम रखने में महाराजा रानी मंदाकिनी को अपने साथ रखते हैं जो ज़ुबैदा को तकलीफ़ देता है। आगामी चुनाव अभियान में भी राजा मुसलमान ज़ुबैदा की जगह अपनी हिन्दू रियासत में रानी मंदाकिनी के साथ जाने की तैयारी करते हैं। पर ज़ुबैदा भी हार मानने वाली नहीं है। वह ज़बर्दस्ती महाराजा के साथ हेलिकाप्टर में बैठ जाती है जिसके दुर्घटनाग्रस्त होने में उसकी मौत हो जाती है।

ज़ुबैदा में निर्देशक ने एक ऐसी ज़िद्दी और बुलंद हौसले वाली अल्हड़ मुस्लिम लड़की की कहानी प्रस्तुत की है जो अपनी शर्तों पर व अपनी मर्ज़ी अनुसार जीवन जीने का साहस करती है। समाज के बनाए ढर्रे पर नाक की सीध में न चलकर वह अपने दिल से सोचती व समझती है और

यही उसकी सबसे बड़ी ताकत है। सख्त पाबंदियों वाले रईस परिवार में पली होने के बावजूद वह उन सभी वर्जित बातों को करती है जिसकी उसे मनाही है, फिर चाहे वह फिल्म में अभिनय हो या पाटियों में डांस। अपने तरीकों से कभी प्रखर कभी मुखर होके वह वर्जनाओं के सूत्रदारों को चुनौती भी देती है।

ज़ुबैदा एक ऐसी लड़की की कहानी है जिसकी जीने की चाह व महत्वकांक्षा इतनी प्रबल है कि उसमें अपराध-भाव नहीं है। उसमें एक दृढ़ निश्चय और रवानगी है, रुमानियत और कुछ भी कर गुज़रने की ज़िद है जो अंत में उसकी मौत के साथ ही खत्म होती है। ज़ुबैदा की यौनिकता भी एक नदी की तरह स्वछंद और कोमलता की तलबदार है जो इस फिल्म के माध्यम से बखूबी दिखाई गई है।

फ़िल्म के सभी किरदार अपने उत्कृष्ट अभिनय के लिए दर्शकों के मन पर छाप छोड़ते हैं। ज़ुबैदा के चरित्र में यह करिश्मा कपूर की एक बेहतरीन अभिनीत फ़िल्म है। यह पूरी टीम का मिला जुला प्रयास ही है कि जज़्बाती और जटिल सीन भी सहज और नाटकीयता रहित लगते हैं। अपनी बाकी की फ़िल्मों की तरह इस फ़िल्म में भी श्याम बेनेगल ने नारी मन के विविध भावनात्मक उतार-चढ़ाव को बड़ी मार्मिकता के साथ उभारा है। चरित्रों ने अपनी आंखों के माध्यम से खुशी, गम, ईर्ष्या, रोष, गुस्सा व मज़बूत इरादे व्यक्त किए हैं। फ़िल्म का संगीत कर्णप्रिय व नयापन लिए हुए है।

फ़िल्म में एक बात जो दर्शकों को भाती है वह है ज़ुबैदा व उसके पिता के परिवार के बीच विचारों का संघर्ष तथा बाद में ज़ुबैदा व महाराजा के नज़रिए को लेकर उथल-पुथल। फ़िल्म का अंत भी दर्शकों को सोचने के लिए बाध्य कर देता है। ज़ुबैदा की मौत एक दुर्घटना में होती है या फिर यह उससे निजात पाने के लिए रची गई साज़िश है? अगर साज़िश तो किसकी, महारानी मंदोदरी की, अपनी शान और रियासत की मर्यादा बरकरार रखने की कोशिश। या खुद ज़ुबैदा की अपने महाराजा और प्रेमी को सबसे छीनकर ले जाने और अपनी हार को जीत में बदलकर अपनी मर्ज़ी का करने का प्रयास। ये फैसला निर्देशक ने दर्शकों के ऊपर ही छोड़ दिया है। हमें तो ये लगता है कि ज़ुबैदा ने अपने वजूद से ही अपनी ख्वाहिशें पूरी करने की कीमत अदा कर दी है। एक सराहनीय और प्रेरणादायक फ़िल्म की श्रेणी में इसे गिना जाना यकीनन सही रहेगा।

-जुही जैन

जुबैदा फ़िल्म के एक दृश्य में रेखा, करिश्मा कपूर व मनोज बाजपेई

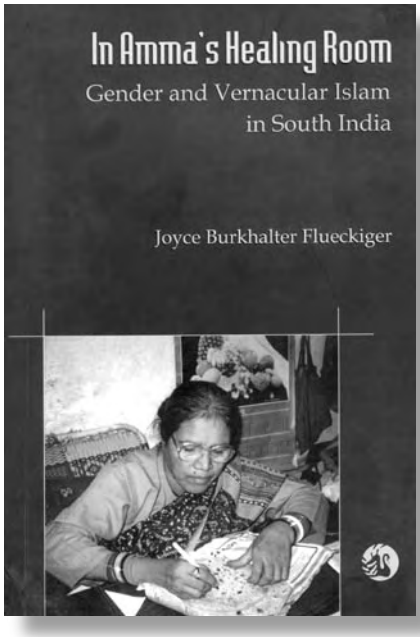

इन अम्माज़ हीलिंग रूम :
जेंडर एण्ड वरनेक्यूलर इस्लाम इन साउथ इण्डिया

लेखक : **जॉयस बुर्कहॉल्टर फ्लूएकआइगर**

भाषा : **अंग्रेज़ी**

प्रकाशक : **ओरियंट लांगमैन प्राईवेट लिमिटेड**

पृष्ठ : **295**

इन अम्माज़ हीलिंग रूम, एक मुस्लिम हीलर 'अम्मा' के जीवन और आध्यात्मिक दर्शन का विविध चित्रण है। अम्मा हैदराबाद में रहती हैं और खुद को एक 'पीरानिमा' यानी पीर की पत्नी के रूप में चिन्हित करती हैं। अम्मा के इलाज की परम्परा एक देशज इस्लामी व्यवहार और फलसफे से उपजी है जिसका केंद्र एक महिला पीर यानी खुद अम्मा है। अम्मा का यह मानना है कि इस्लामी देशज अभिव्यक्ति में वह लचीलापन और सृजनात्मकता मौजूद है जिसे मुसलमान व गैर मुसलमान सभी मज़हब के लोग व्यापक, एकल और समान रूप से असरदार मानते हैं। भारतीय समाज की पारम्परिक रवायतों में पीर/फकीरों के माध्यम से रोग मुक्त होने का चलन बहुत पुराना है जिस पर सभी धर्मों के लोग आस्था रखते हैं। अम्मा की इलाज परम्परा भी इसी शैली में गिनी जाती है।

अम्मा की इलाज परम्परा में कुछ खास बातें नज़र आती हैं जो इस देशज इस्लामी रवायत को अहम बनाती हैं। सबसे पहली बात यह है कि अम्मा खुद एक महिला है जो एक ऐसी परम्परा को व्यवहार में लाती है जिस पर पुरुषों की मिल्कियत रही है। ऐसा करके वे समाज के तयशुदा मापदण्डों से अलग हटकर उस दुनिया में कदम रखती हैं जहां उन्हें बार-बार अपनी काबलियत का भरोसा दिलाना पड़ता है। अम्मा को अपनी सत्ता और अपना कौशल निरन्तर बनाए रखना पड़ता है जिससे वे सार्वजनिक तौर पर स्त्री-पुरुष, हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई सबके बीच अपनी साख कायम रख पाएं।

दूसरी बात यह है कि अम्मा के पास इलाज के लिए आने वाले रोगियों में अधिकांश महिलाएं हैं जो उनके पास सहजता से इसलिए आ पाती हैं क्योंकि वे खुलकर अपनी 'बेचैनी' और 'परेशानी' बयान कर सकती हैं। पुरुष रोगहरों की तुलना में अम्मा उन्हें अधिक संवेदनशील और स्नेह देने वाली लगती हैं।

और तीसरी महत्वपूर्ण बात है कि अम्मा के पास आने वाले रोगियों में सभी धर्मों के लोग शामिल हैं। तो फिर वह कौन सा कारण है कि ये धार्मिक इलाज परम्परा धर्म की दीवारें तोड़कर सबको एक समान प्रतीत होती है? जैसा कि अम्मा बताती हैं, "*इलाज की परम्परा के सामने मज़हबी*

दीवारें ढह जाती हैं और हम एक दूसरे के साथ इंसानी रिश्ते बनाते हैं। हमारे बीच रोग और निदान का रिश्ता होता है जो विश्वास, प्यार और तसल्ली पर आधारित है। जहां तक आध्यात्मिक इलाज परम्पराओं का सवाल है वहां हमारे समाज में धर्म, जाति की सरहदें मायने नहीं रखतीं।"

पर क्या अम्मा का 'ताबीज़', 'पुड़िया' हिंसक पतियों, पारिवारिक क्लेश और बिगड़े बेटों को रास्ते पर ला सकते हैं? लेखिका ने इस प्रश्न को उठाकर इसका जबाव भी खुद ही दिया है। शायद अम्मा का इलाज लोगों के मनोवैज्ञानिक मानस पर काम करता है और औरतें वापस अपने घर सशक्तता और आत्मविश्वास के साथ जाती हैं। यही इस इलाज शैली का सच है।

अम्मा की इस इलाज परम्परा को लेखिका ने 'देशज इस्लाम' का नाम दिया है जिसका आधार सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक है। इस पुस्तक के लिए की गई अपनी शोध के दौरान लेखिका ने पाया कि अम्मा की रोग हरने की क्षमता उनका व रोगी का आध्यात्मिक विश्वास है। दोनों मानते हैं कि 'शैतान' के हाथों 'परेशान' आत्मा का तोड़ आध्यात्मिक ही हो सकता है। शारीरिक बीमारियों के लिए ऐलोपैथिक इलाज हो सकता है पर आध्यात्मिक तकलीफ में आध्यात्म का अपना एक अलग मुकाम है।

अम्मा के साथ लेखिका का रिश्ता एक गुरु-शिष्य का है जिसके माध्यम से अम्मा की देशज इलाज परम्परा को पाठकों तक पहुंचाने की कोशिश की गई है। इस पुस्तक में लेखिका ने ज़्यादातर बातें अम्मा, उनके साथियों, उनके शार्गिदों की जुबानी सुनकर प्रस्तुत की है। अपने शोध की प्रक्रिया को लेखिका ने अम्मा के साथ अपने रिश्ते के माध्यम से समझा, जिसमें कभी वे एक शिष्या बनीं, कभी शोधकर्ता और कभी एक बेटी। यह किताब भारत तथा विश्व स्तर पर धर्म, जेंडर और देशज परम्पराओं के मौजूदा विचारों को चुनौती देकर एक ऐसी रचनात्मक परम्परा से पाठकों का परिचय कराती हैं जहां स्त्री-पुरुष, हिन्दू-मुसलमान और अमीर-गरीब के भेद मिट गए हैं। अम्मा के अपने शब्दों में, *"ये इलाज की परम्परा एक चौरास्ता है जिसमें धार्मिक व सामाजिक पहचानें एक समान धरातल पर एक हो जाती हैं और जहां मकसद होता है परेशानी से निजात पाना।"*

मूलतः इस पुस्तक में छः पाठ हैं। पहले पाठ में पाठकों का परिचय उस माहौल व जगह से कराया गया है जहां ये हीलिंग होती है। अगले चार पाठों में रोगहर प्रक्रिया, रोगियों से साक्षात्कार, धार्मिक पहचान, जेंडर संबंधी परम्पराओं का विश्लेषण किया गया है। पाठ छः में जेंडर, धार्मिक पहचान व सत्ता के संबंधों की समीक्षा की गई है जो इस शोध का महत्वपूर्ण हिस्सा है। पुस्तक के सारांश में अम्मा के जीवन के उन रिश्तों की अहमियत का ब्यौरा है जो उनकी रोग हरने की क्षमता को सशक्तता प्रदान करते हैं। इसमें अम्मा की खुदा और अपने पति अब्बा के साथ रिश्तों का ज़िक्र किया गया है जिसका आधार मुहब्बत और विश्वास है।

यह पुस्तक उन शोधकर्त्ताओं, अकादमिकों और चिंतकों के लिए उपयोगी साबित होगी जो धर्म, जेंडर और वैकल्पिक हीलिंग परम्पराओं पर अपनी समझ बनाना चाहते हैं। पुस्तक की भाषा अकादमिक है परन्तु उदाहरणों की मौजूदगी इसे समझने में मदद करती है।

-जुही जैन

पारो-मेवात में खरीदी हुई एक औरत, शोध पुस्तिका जागोरी द्वारा चलाए जा रहे फैलोशिप सहयोग कार्यक्रम के अंतर्गत मेवात में 'पारो' महिलाओं की सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक व सांस्कृतिक परिस्थितियों व जीवन संघर्ष को उजागर करती है। 'पारो' नाम से सम्बोधित की जाने वाली ये महिलाएं हरियाणा, पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में खरीदी जाती हैं। इन लड़कियों की खरीददारी के पीछे सामाजिक व सांस्कृतिक पितृसत्तात्मक सोच व नियंत्रण का जटिल ताना-बाना नज़र आता है जिनमें औरतों को एक उपयोग में लाने वाली वस्तु के रूप में देखा जाता है। समाज में औरतों के अधिकारों का हनन करने वाली इस परम्परा को गरीबी, मजबूरी, ज़रूरत और कर्तव्य के विभिन्न नामों से वैध करार देने की पुरज़ोर कोशिश की जा रही है।

पिछले तीन वर्षों में जागोरी ने अपने फैलोशिप कार्यक्रम के तहत अलग-अलग राज्यों में महिला आंदोलन से जुड़े कार्यकर्त्ताओं व नारीवादी संगठनों के साथ मिलकर महिला हिंसा के विभिन्न पहलुओं पर शोध अध्ययन कार्यक्रम चलाए हैं। जागोरी की शोध प्रक्रिया सहभागी व नारीवादी है। हमारा प्रयास है कि प्रभावित लोगों के साथ मिलकर उनके जीवन की स्थितियों का विश्लेषण करें तथा समस्याओं के सार्थक समाधान खोजने के सामूहिक प्रयास करें।

'पारो' महिलाओं पर शोध अध्ययन शफीकुर रहमान द्वारा किया गया है तथा अध्ययन की रिपोर्ट जागोरी द्वारा प्रकाशित की गई है। रिपोर्ट में अध्ययन की प्रक्रिया, आंकड़े, सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक कारण व समस्या के समाधान के लिए सुझाव भी प्रस्तुत किए गए हैं। पुस्तिका की भाषा हिन्दी है। यह शोध रिपोर्ट महिला-हिंसा के मुद्दों पर कार्यरत कार्यकर्त्ताओं, विकास प्रशिक्षकों, शोधकर्त्ताओं के लिए उपयोगी होगी।

जागोरी प्रकाशन

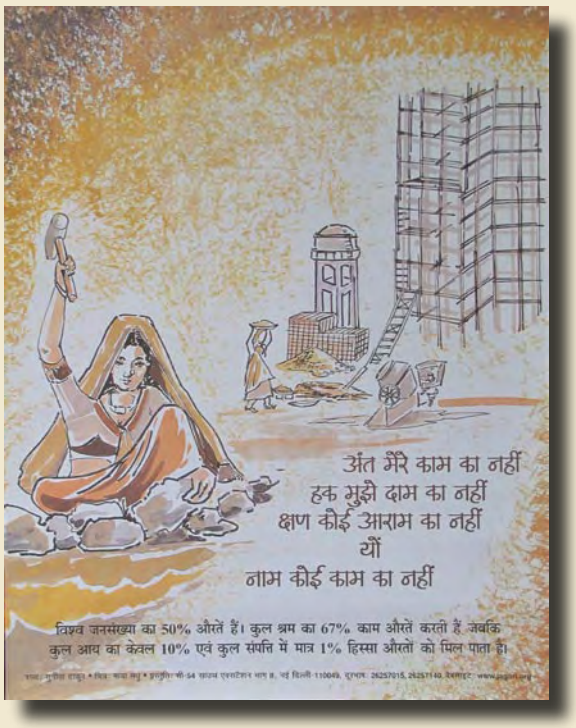

विषयः औरत और काम, पोस्टर
भाषाः हिन्दी

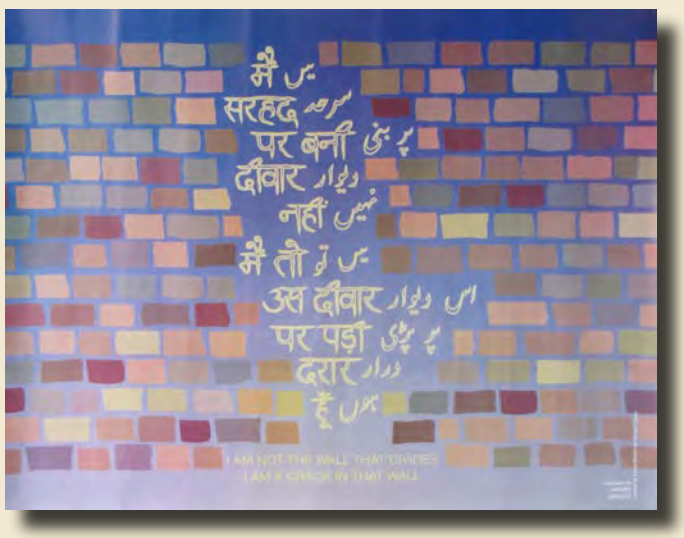

विषयः अमन, पोस्टर
भाषाः हिन्दी/उर्दू

विषयः लड़कियों की शिक्षा, पोस्टर
भाषाः हिन्दी

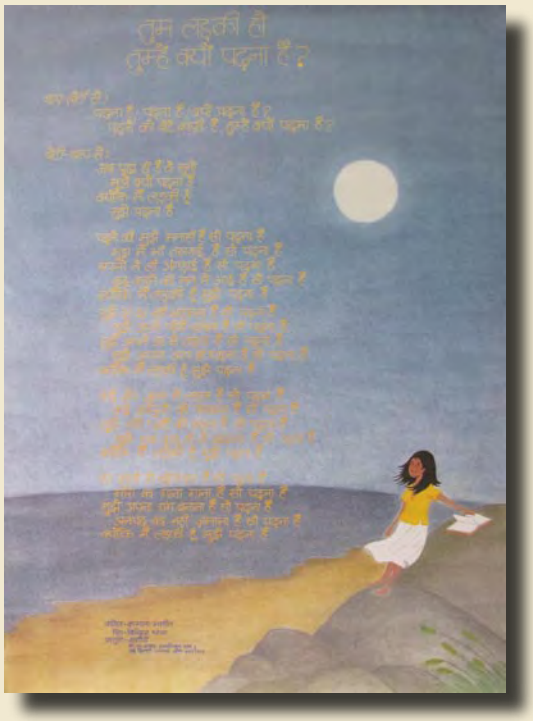

विषयः नारीवादी गीतों की सीडी
भाषाः हिन्दी

प्रतियां मंगवाने के लिए संपर्क करें:
महाबीर सिंह, जागोरी
दूरभाष: 011-26691219/20 • distribution@jagori.org

“मुस्लिम महिलाएं अपना इतिहास जानने के लिए विद्वान या किसी अन्य पर निर्भर नहीं रह सकतीं, फिर चाहे वह इंसान उनका पक्षधर हो या निष्पक्ष। अपने इतिहास को पढ़ना-समझना उनका अपना दायित्व भी है और कर्त्तव्य भी। मानव अधिकारों को पूरी तरह पाने के लिए हमें अपने इतिहास को जानना होगा, उसे बार-बार पढ़ना होगा और एक व्यापक और खुले मुस्लिम अतीत को पुनः गढ़ना होगा।”

फातिमा मरनीसी, नारीवादी इतिहासकार की पुस्तक
हिडन फ्रॉम हिस्ट्रीः द फॉरगॉटिन क्वीन्स ऑफ़ इस्लाम से

जागोरी
JAGORI

बी 114 शिवालिक, मालवीय नगर, नई दिल्ली 110017
दूरभाष 26691219, 26691220
ई-मेल jagori@jagori.org
वेबसाइट www.jagori.org